सपाट चेहरेवाला आदमी

अक्सर ये कहानियाँ 'टेक्स्ट' और पारिभाषिक शब्दावलियों को नकारती हैं। शब्द-चिप्पियों वाली परिभाषाओं को धक्का देती हैं। इनमें फ़ैशन और असमर्थता-सूचक बिखराव, कृत्रिम निरर्थकता, भाषाहीनता और आरोपित कथ्यहीनता नहीं हैं। ये कहानियाँ अकेलेपन की खाली चर्चाओं से अलग, 'अकेले न हो सकने' की क्रूर अनिवार्यता का एहसास अधिक कराती हैं। जीवन की कई-कई तहों को एक साथ टटोलती हुई, आपके हाथों में सूत्रों के कई-कई छोर एक ही साथ पकड़ा देती हैं। आपकी बनी हुई (सु-) रुचि को नष्ट करने को तत्पर दीखती हैं—एक तीव्र और प्रशान्त शिल्प और सपाट भाषा के सहारे। यदि आप भाषा की इस सपाट काव्यमयता के भीतर कथ्य के समानान्तर चलते एक दूसरे 'अंतरंग अभिप्राय' को पकड़ लें तो अचानक आपको अपनी ही आँखों में वह दरार दिख जाएगी जिसके अन्दर से आप भारतीय जीवन के आन्तरिक 'केऑस' से साक्षात कर सकेंगे। तब आप पाएँगे कि ये कहानियाँ आपको किसी 'सुखद-अनुभव' तक न ले जाकर, वहाँ पहुँचाती है, जहाँ आप सहसा अत्यन्त बेचैनी महसूस करने लगते हैं।

दूधनाथ सिंह

सपाट चेहरे वाला आदमी

टेड

प्रकाशक :
अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०
२/३६, अंसारी रोड,
दरियागंज, दिल्ली-६

मूल्य : चार रुपये

प्रथम संस्करण : १९६७

आवरण : नरेन्द्र श्रीवास्तव

मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस
के-१८, नवीन शाहदरा, दिल्ली

मुख्य वितरक :
पुस्तक प्रसार
२/३६, अंसारी रोड,
दरियागंज, दिल्ली-६

वेवी के लिए
कृतज्ञता सहित

अनुक्रम

रीछ

इसका पता, कुछ दिन पहले, बिस्तर में ही चल गया था। गलती उसी की थी। उस वक्त, जब वह लगातार उस खुमार में लड़ रहा था, उसे सोने के कमरे में इस तरह अचानक नहीं चले आना चाहिए था। लेकिन या तो वह भूल गया था, या कुछ क्षणों के लिए अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा था। . या शायद वह बुरी तरह डर गया था और उसे मददगार की जरूरत महसूस हुई थी। जो भी हो, अचानक ही वह बीच का दरवाज़ा खोल कर सोने के कमरे में चला आया था।

पत्नी बच्चे को सुला कर इन्तज़ार करती-करती सो गयी थी। वह उसकी बगल में बिस्तर पर लगभग ढह-सा गया।... लेकिन तभी उसे अहसास हुआ कि उसने गलती की है। क्षण-भर को वह पत्नी के सुते हुए चेहरे की ओर देखता रहा। वह, यह सोचने की कोशिश करता रहा कि अगर वह सो गयी है और उसके इधर आने की खबर उसे नहीं लग सकी है तो वह उठकर चला जायेगा और उधर जाकर सुस्ता लेगा, स्वाभाविक हो लेगा, तब इधर आयेगा। लेकिन वह कुछ भी अन्दाज़ा नहीं लगा सका। सदा से ऐसा ही होता आया था। केवल शुरू के कुछ दिनों को छोड़कर, जब वह भयानक रूप से लड़ती थी। फिर वह सहसा ही चुप हो गयी थी। तब से वह अक्सर इसी तरह सोयी हुई मिलती। कई बार यह समझ कर कि वह गहरी नींद में है, वह उठने की कोशिश करता तो पाता कि उसने धीरे से बाँहें बढ़ा कर उसकी कमर घेर ली है और मुस्करा रही है। पत्नी के प्यार अथवा वासना के आवाहन का यह ढंग अब उसका इतना तकियाकलाम बन गया था कि उसे केवल चिढ़ ही होती। लेकिन बिस्तर में आ जाने के बाद वह कुछ नहीं कर सकता था, सिवा...। शायद वह इस तरह शरीर के स्तर पर उतर कर सब कुछ भूलना चाहता था। लेकिन ऐसा कुछ भी न हो पाता। तब वह चिड़चिड़ा उठता या जल्दी खत्म कर लेता। खत्म होने के तुरन्त बाद ही उसे लगता कि वह एक मरी हुई चीज़ के पास लेटा है। लेकिन वह चीज़ ज़िन्दा होती और दुबारा इसका

चमक रहे थे। उन्हीं पर उसका थूथन टिका था और अजीब-सी अधमुँदी पलकों से वह उसे घूर रहा था। उसके थोवड़े जैसे जबड़े से झाग निकल कर उसके काले-काले पंजों पर चिमट गयी थी और खून-सनी आँखों के इर्द-गिर्द पसीना टिघल रहा था। क्षण-भर को उसे झुरझुरी-सी छूट आयी। शायद यह बहुत थक गया है या कहीं गहरी चोट लगी है। या ? उसने सोचा—क्या यह बदला लेने की ताक में है और इसीलिए अन्दर नहीं गया। तो क्या उछल कर फिर उस पर सवार हो जायेगा और अन्ततः . अन्ततः [उसे खत्म करके ही दम लेगा। नहीं, फिलहाल तो इससे बचे रहना ही ठीक होगा—उसने अपने को टटोला। वह बिलकुल थक गया था और इस वक्त यह सचमुच आक्रमण कर दे तो मिनटों में उसका काम तमाम कर सकता है। वह थोड़ा सजग होकर तख्त पर बैठ गया और किसी भी क्षण उसके लम्बे उछाल का इन्तजार करने लगा। फिर उसे ध्यान आया कि पत्नी उधर अभी भी जगी होगी और भाँप रही होगी। शायद वह इधर भी आ जाय। या ऐसा न हो कि वह उठकर उधर जाने लगे तो यह खूँखार भी उसी वक्त उछल कर साथ-ही-साथ सोने के कमरे में दाखिल हो जाय! नहीं, इस तरह आकस्मिक रूप से वह यह सब कुछ उद्घाटित होने देना नहीं चाहता था। न ही उसकी पत्नी यह सब कुछ अचानक सह सकती थी। वह निर्णय तो बाद में लेगी। उसके पहले उसका क्या होगा—इसकी कल्पना से ही उसके रोंगटे खड़े हो जाते। उसने फिर उधर देखा। यह अन्दाजा करना कठिन था कि वह सो रहा है या निशाना तक रहा है। ...फिर भी वह उठा और धीरे-धीरे तहखाने के दरवाजे तक गया।

दरवाजा हल्के-से हिला तो उसने अपनी पूरी-की-पूरी आँखें खोल दीं और उठ कर खड़ा हो गया। लगा, उसने अपना एक पंजा जरा-सा सरका कर फिर ऊपर की ओर उठाया। जैसे वह पूरी तैयारी के बाद अन्तिम और सफलतम वार करने जा रहा हो। उसने सहम कर जरा-सा परे हटने की कोशिश की। लेकिन तब तक उसने अपने दोनों पंजे उसकी छाती पर रख दिये और थूथन उठाकर उसके होंठ छूने की कोशिश करने लगा। अचानक ही उसका भय अपनी चरम सीमा पर जाकर टूट गया और उसकी जगह एक थकान और सहानुभूति ने ले ली। यह सहानुभूति अपने और उसके—दोनों के ही प्रति थी। एक विवश-सी पहचान.. आने वाले अतीत की...या अतीत के अवसान की। उसने धीरे से उसको परे हटा दिया और चुमकारता हुआ सहलाने लगा। सहलाते हुए उसने गौर किया कि उसकी पहले

की काली खूबसूरत आँखें अब ललछौंहीं रहने लगी थीं। हाँ, कई वर्ष हो गये थे—कई धुंधले वर्ष। अब वह और ज्यादा खूंखार लग रहा था।...उसने रोज की तरह उसे दरवाज़े के भीतर ठेल दिया और सावधानी से दरवाज़ा बन्द कर दिया। फिर लौटकर उसी तरह तख्त पर बैठ गया। हाथ-पाँव ढीले छोड़ दिये और आँखें मूंद लीं। लेकिन चाहने पर भी वह अपने शरीर को ढीला नहीं छोड़ सका। वह इतना थक गया था कि यह नामुमकिन था। सारा बदन अकड़ा हुआ था जैसे अभी तड़तड़ाकर टूट जायेगा। कनपटियों के बग़ल में दो मोटी-मोटी नसें धड़कती हुई अन्दर दिमाग़ की तहों को फाड़ती हुई-सी प्रवेश कर रही थीं। उसने लक्ष्य किया कि नीचे लटकता हुआ उसका एक पैर एक खास लय में थरथरा रहा था। उसने पैर ठीक कर लिया। लेकिन कुछ सेकेण्डों बाद ही कँपकँपी फिर शुरू हो गयी। उसने पाँव ऊपर कर लिया। उसकी नज़र बीच के दरवाज़े की ओर चली गयी। उस ओर सोने के कमरे में अँधेरा था। दरवाज़े की सन्धि से रौशनी की लकीर नहीं दिख रही थी। वह सो गयी है। वह कल सुबह निश्चिन्त भाव से सफ़ाई माँगेगी—आराम के साथ— उसने पत्नी के बारे में सोचा। यह सोचकर, कि चलो इस वक़्त तो खतरा टला, उसे थोड़ा आराम महसूस हुआ। लेकिन दूसरे ही क्षण उस बात के आकस्मिक रूप से खुल जाने का भय उस पर छा गया। कल के बाद अगला कल...फ़िर एक दिन और फिर एक दिन...और फिर एक दिन...और वह अन्तिम दिन...।

उठकर दुबारा सोने के कमरे में जाने का ख़याल आते ही फिर जैसे उन्हीं तांत की जालियों में वह जकड़ गया। क्या वह पत्नी को सब कुछ बता दे? यही उसने चाहा था। बहुत शुरू में...बल्कि शादी के पहले ही उसने इस बात का निर्णय ले लिया था। उन दिनों वह एक आदर्शवादी की तरह सोचता था जिसके मन में पाप की गहरी अनुभूति होती है। अब उस बात को याद करना भी, कि वह 'कनफ़ेशन' में विश्वास रखता था, कितना हास्यास्पद लगता है। लेकिन तब उन दिनों, इसी क़िस्म के उत्साह में उसने पहली ही रात को प्रयत्न किया था। इसमें वह सफल नहीं हो सका था। इधर-उधर की बातों द्वारा अपनी मूल बात पर आने की भूमिका

उसने कई बार तैयार की थी। बल्कि बार-बार वह यही करता रहा। और हर बार पत्नी उसकी भूमिका को चीरकर एक नये अनागत खौफ में उसे जकड़ देती। फिर जकड देती ..फिर छोडती और फिर जकड देती। सारी रात यही चलता रहता। सुबह, जैसे सभी कुछ अपने-आप तय हो गया था। इस तरह सोचना ही अब बेकार है। या कि इसके लिए वक्त चाहिए। यही सोचकर उसने इस बात को भविष्य पर छोड दिया था। ..विवाह से पहले उनका प्रेम सम्बन्ध बहुत लम्बे दिनों का नहीं था। उसे हमेशा लगता था कि अगर कही उसने लडकी को सोचने-विचारने के लिए ज्यादा वक्त दिया तो यह सम्बन्ध टूट जायेगा। शुरू के परिचय के दिनो में लडकी उसे छुई-मुई और मूर्खा-सी लगती थी। वह मिलने पर हमेशा उसे मुग्ध भाव से तका करती या ऊटपटाँग बातें किया करती। उसने सोचा था कि विवाह के बाद भी वह ऐसी ही रहेगी और तब सब कुछ कह सकना बहुत आसान होगा। हालाँकि उन शुरू के थोडे से दिनो के बाद ही, यह स्वीकार कर लेने पर कि वे दोनो एक-दूसरे को चाहते हैं, लडकी ने अचानक ही यह सवाल उसके सामने रख दिया था, "आपने क्या इसके पहले भी कभी...?" उसने वाक्य अधूरा छोड़कर अपनी शका और सकोच—दोनों व्यक्त कर दिये।

वह अचकचा कर उसे देखता रह गया था। नही, इस वक्त उसे भड़काना ठीक नही होगा। फिर भी उसने झूठ बोलने की कोशिश नहीं की। गोल-मोल-सा जवाब दे दिया, "तुम इस तरह के बेकार सवाल क्यों पूछती हो? सच यह है कि मैं तुम्हें ..।" उसने पहले वाक्य पर गुस्सा होने का अभिनय किया और दूसरे वाक्य पर भावुक होने का।

लडकी पर इस अभिनय का अनुकूल असर हुआ। उसने अपने सवाल के लिए माफी माँग ली। बाद मे कई दिनो तक मिलने पर वह बार-बार अपना एक वाक्य बातो के सिलसिले मे अवसर निकाल कर जरूर दुहरा देती, "क्या आप सचमुच नाराज हैं? क्या माफी नही मिल सकती।" सच यह था कि वह जानती थी कि न तो वह नाराज है, न ही अब तक उसने माफ नहीं किया। सिर्फ ऐसा कह कर वह बार-बार खुद को यकीन दिलाती कि वह मात्र उसी को चाहता है।

लेकिन वह सवाल रखकर उसी दिन से, उसने ये ताँत की जालियाँ उसके इर्द-गिर्द बिछानी शुरू कर दी थी। एक हल्का-सा सकोच और छिपाव तभी उसके मन मे आ गया था। उस दिन यह पूछकर लडकी ने दूर-दूर दो-चार पतले तार बिछा

दिये थे। उस पहली रात, उसने निश्चय किया था कि वह उन्हें काटकर फेंक देगा। लेकिन उसकी हर कोशिश भोंथरी साबित होती और लगता कि कटने की जगह दो-चार और तार बिछ गये हैं। एक बार उसने कहना शुरू किया, "स्त्री, पुरुष की सबसे बड़ी कमज़ोरी होती है। इतिहास में इसके कितने उदाहरण हैं...।"

"तुम तो उन इतिहास-पुरुषों में से नहीं हो ?" पत्नी बीच ही में तोड़ देती।

"मैं तो ऐसे ही कह रहा था।"

"ऐसे ही कह रहे थे। हम से ऐसी बातें मत किया करो। हमें नहीं सुननी हैं ऐसी बातें। हम वैसे नहीं हैं। क्या है ?" अन्तिम वाक्य पर वह घूरने लगती।

वह कोई और बात छेड़ देता।

"मैं यह नहीं सह सकती।"

"छोड़ो भी।"

घंटे भर बाद वह फिर उठ बैठती और पूछने लगती, "मैं यह सोच भी नहीं सकती। हाउइट हैपेन्स ? हाउ दे टालरेट, आई डू नाट नो।...बताओ ?"

उसने महसूस किया कि अब उन हल्के-हल्के तारों की एक जाली-सी बुन गयी है और उसे धीरे-धीरे कस रही है।

उसके बाद यह भी सोचता रहा कि इस तरह का निर्णय उसने बेकार ही लिया था। उसे कहीं, अपने अन्दर ही 'उसको' मर जाने देना चाहिए था। उसमें था भी क्या—सिवा एक ठण्डे और भयावने अपमान के। यदि वह साहस करके उसे प्रकट भी कर देता तो या तो उसे लिजलिजी-सी दया मिलती या हिक़ारत भरा उपहास। वह इन दोनों परिणामों के लिए तैयार नहीं था। ठीक है, अगर 'वह' अन्दर ही अन्दर मर जाय। वह, उस रात, यह सोचकर थोड़ी देर के लिए कुछ हल्का हो लिया था। लेकिन वह डरता भी था। यदि वह सचमुच मर गया तो उसकी सड़न और बदबू को वह क़तई छिपा नहीं सकेगा। सारा कमरा दुर्गन्ध से भर जायेगा। चूमते वक़्त उसकी सांसों से दुर्गन्ध निकलेगी। उसके बदन पर पीले-मटमैले दाग़ उभर आयेंगे। जीभ पर फफोले आ जायेंगे या जहाँ-तहाँ मुँह-बन्द फोड़े निकलते दीख पड़ेंगे। तब ? . उसको वह मरने देना चाह कर भी कहीं अन्दर से जीवित रखने की उत्कृष्ट लालसा से पीड़ित था। कहीं-न-कहीं उन दोनों में आपस में एक गहरी अनजान-सी कोमल पहचान थी...उस अपमान की तह में छिपी हुई, जिसे दोनों एक-दूसरे के लिए सँजोये हुए थे। यह एक दूसरी तरह का कसाव था, जिससे

वह निकलना नहीं चाहता था। जो भी हो, वह 'उसे' कहीं छोड़ आया था। तब वह बहुत छोटा-सा था। कोमल और बिल्कुल भोला। वह सोचता था कि वह रस्ता भूल गया होगा और लौटकर फिर नहीं आयेगा।

लेकिन एक दिन 'वह' लौट आया। वह दफ्तर से लौट रहा था कि अचानक ही वह रास्ते में खड़ा, दिखाई दे गया। छोटा-सा, झबरे-झबरे बाल, छोटी-छोटी मिचमिची आँखें—जिनमे कहीं गहरी पहचान और उलाहने का भाव था। क्षण भर को वह रुक गया और उसे देखता रहा। फिर वह तेजी से मुड़ा और भीड़ में शामिल हो गया। नहीं वह 'उसे' बुला नहीं सकता था। वह 'उसे' पुचकार नहीं सकता था। वह उसके संग अपना थोड़ा-सा भी वक्त अकेले मे गुजारने लायक नहीं रह गया था। सड़क के उस ओर बहुत बड़ा मैदान था.. या कि रेगिस्तान। लोग कहते थे—धीरे-धीरे वह रेगिस्तान शहर के अन्दर तक बढ़ता हुआ चला आ रहा है। अँधेरे मे सफेद, किरकिरी रेत उड़ कर घरों, सड़कों, मकानों, चौरस्तों और आदमियों पर बिछ जाती है और सुबह वह हिस्सा बजर के भीतर चला जाता है। उसने सोचा—वह उसी मरुभूमि में लौट गया होगा, जहाँ वह उसे छोड़ आया था। भीड़ के साथ-साथ आगे बढ़ते हुए भी वह बार-बार पीछे मुड़कर उस ओर देखता रहा। उसे लुप्त होता हुआ देखता रहा। इसी मनःस्थिति में वह घर लौटा और चुपचाप जाकर अपने कमरे में लेट गया। वह क्यों आया था ? अचानक ही, उस भीड़-भरी सड़क पर पहचान जताता हुआ, वह क्यों खड़ा था—इतने दिनों बाद शायद लोग, उसे इस तरह उजबक की तरह खड़े होकर उसकी ओर देखते हुए लक्ष्य कर रहे थे। क्या उनमें कोई परिचित भी था ? उसे कुछ भी याद नहीं आया। वह इतना अधिक अभिभूत हो गया था.. उसके इस तरह अप्रत्याशित रूप से प्रकट हो जाने पर...इतना अधिक डर गया था कि उसने और कुछ भी नहीं देखा। तभी उसे अहसास हुआ कि वह भीड़ में है और सड़क के नियम के खिलाफ़ पीछे मुड़कर दूसरी ओर देख रहा है।

दूसरे-तीसरे दिन भी उस खास जगह पर एक बार नज़र दौड़ाना वह नहीं भूला। लेकिन वहाँ कुछ भी नहीं था। उस ओर बहुत दूर क्षितिज में रेत का उड़ता

हुआ सफ़ेद ववण्डर दिखाई दे जाता था और सीमाहीन, मटियाला जलता आसमान। धीरे-धीरे उसे लगने लगा कि वह इन्तजार-सा करने लगा है। वह उसकी आहट-सी ले रहा है। अचानक ही उसकी समझ में सब-कुछ आ गया। पत्नी उसके जिस अभिनय की चर्चा किया करती थी वह सच साबित होने लगा था। सहवास के हर क्षण में उसे लगता कि वह ठीक कह रही है। वह सचमुच ही अभिनय कर रहा है। बग़ल में लेटते ही 'उसका' असहाय घेर लेता। पत्नी की उपस्थिति मात्र, तुरत 'उसका' मान करा देती। वह सोचने लगता, सोचने लगता, सोचने लगता। फिर सिर झटककर इस ख़याल को निकालना चाहता। अपने चेहरे, हाव-भाव, अपने व्यवहार, अपने लेटने, उठने-बैठने, बोलने या चुप रहने को वह पहले की-सी स्वाभाविकता प्रदान करने की कोशिश करता। लेकिन इस प्रयत्न में वह अभिनय तुरत दुगुने रूप में गहरा हो उठता। उसे लगता कि वह पहचान लिया गया है। वह हठ करता कि ऐसा नहीं है, लेकिन वह ख़ुद से मात खा जाता। फिर उसे लगता कि वह लगातार 'उसी' के बारे में सोच रहा है। पहले सचमुच ही ऐसा नहीं था। पत्नी ने 'उसे' फिर से जीवित कर दिया था। या वह उसके वीरानेपन से सहसा ही 'उसे' वापस खींच लायी थी। सिर्फ़ उसके संसर्ग में आने भर की देर होती कि वह 'उसमें' लीन हो जाता। पत्नी का व्यंग एक सच्चाई में परिणत होने लगा था। उसे यह तक महसूस होने लगा कि वह पत्नी के सहवास में सिर्फ़ 'उसीसे' मिलने के लिए जाता है, सिर्फ़ 'उसे' पुनरुज्जीवित करने के लिए, सिर्फ़ 'उसे' ही बार-बार पाने के लिए...हवा की दीवार के उस पार...। लेकिन उसकी समझ में यह नहीं आता कि वह पत्नी को कैसे समझाये। कि 'उसे' इस तरह बार-बार लौटाने में उसी का हाथ है। कि वह असल में क्या कर रही है। कि वह किस तरह स्वयं ही अपने हाथों से उसे खो रही है, दूसरी शकल में गढ़ रही है। कि वह स्वयं ही उसे उठाकर दूर फेंक रही है। ..दिनों के बीतने के साथ ही उसका शक और भी बढ़ता जा रहा था। वह उसे तरह तरह-तरह से छेड़ती, 'टीज़' करती और खोद-खोद कर, प्राचीनतम, टूटी-फूटी, डवाली, बदरूप मूर्तियाँ और छिपे शिलालेख बाहर निकालना चाहती। कुछ न मिट्टी ही उठा लेती या टूटी ईंटें या कोई घिसा हुआ पत्थ को पढ़ने का प्रयास करती। या अपने ढंग से उसकी व्याख्या क ढ़ती या अपने निर्णयों से उसे लगातार टुकड़े-टुकड़े करती

चलती।..."अगर मैंने जान लिया कि ऐसा कुछ भी तुमने किया था तो मैं तुम्हें दिखा दूंगी। तुम कल्पना भी नहीं कर सकते...हाँ। कि मैं क्या कर सकती हूं। मैं एक क्षण में तुम्हारी यह सारी 'पवित्रता-पवित्रता की रट' को तोड़ दूंगी। मैं किसी बहुत फूहड़ नाकारा आदमी के साथ . । तुम जलकर राख हो जाओगे। मैं तुम्हारी मूर्ति...यह मन्दर की मूर्ति पटक कर चूर-चूर कर दूंगी। देखूंगी, तुम कैसे जिन्दा रहते हो, उसके बाद।...कुछ नहीं, मैं समझ गयी, तुम्हें क्या पसन्द है...। भारी-भारी नितम्ब...हुंह। कितने गन्दे होते हो तुम लोग। हमेशा पीछे से ही पसन्द करते हो। हाँ, चेहरा तो ठीक-ठाक है लेकिन पीछे से एकदम बेकार है। क्या पीछे से खाओगे। हाँ तुम लोग खाते ही हो। तो क्यों नहीं ढूंढ ली कोई विकट-नितम्बा? क्यों नहीं ढूंढ ली कोई लम्बे चेहरे वाली। क्यों गोल चेहरे पर मरते थाये। कौन थी, ज़रा मैं भी तो जानूं।" वह बाहों में कस लेती, ज़रूर थी। वह छोड़ देती और करवट बदल कर लेट जाती। "पता चलने दो। तुम नहीं बताओगे तो क्या पता नहीं चलेगा। मैं इतनी कच्ची नहीं हूं। मैं तुम्हारा चेहरा सूंघकर बता दूंगी। वक़्त आने दो।" वह उसे चूमने का प्रयत्न करता। उसके बाद उसके बोलने का लहजा बदल जाता—"क्या तुम्हें कभी इतना सुख मिला है? क्या तुम इस तरह किसी और के साथ.. ठीक इसी तरह...? छिः। हां-हां, मेरे तो छोटे-छोटे हैं ..। उसके कितने बड़े थे। बीच में जगह थी या दोनों मिल गये थे। इसी लिए तुम यहाँ नहीं चूमते। दोनों हाथों में क्या एक ही आता था.. ? इसीलिए रेस्त्रां में उस औरत को देख रहे थे। सारी छाती दबी थी.. । तुम क्या समझते हो बच्चू, तुम्हारी हर नजर मैं ताड़ लेती हूं। क्यों, उसे देखकर किसी और की याद आ गयी क्या? हाय, हाय कितना दुख है बेचारे को . च्च . च्च.. च्च . ।"

वह एकदम व्यर्थ और मर्द पड़ जाता। उसकी कोई इच्छा नहीं होती। चुपचाप बगल में लेट जाता और छत की ओर ताकने लगता। लेकिन उधर से भी निजात मिलनी कठिन थी। शुरू में जब उसने प्रतिवाद करने की कोशिश की वह कहती कि ज़रूर उसके मन में चोर है, तभी तो वह चिढ़ता है, सच, सच को बुरा लगता है...। लेकिन इस तरह चुप रहने का भी वह अर्थ निकाल लेती।".. अब क्यों रोने लगा मन। यह मेरा अपमान है। मुझे इस तरह करके एकाएक हट जाना.. । नहीं तो इस तरह एकाएक अलग हो जाने का मतलब...? कहीं बहुत गहरे चोट लगी है ..। ' मुझसे क्यों निकाल रहे हो? मेरे साथ 'करते' हो

और मन में किसी और को बिठाये रखते हो।...लेकिन...ठीक है...मैं तुम्हारी असलियत तुम्हारे सामने खोल के रख दूंगी...। तुम फिर घिघियाओगे... देखना...।"

"तुम्हारे पास इन बातों के लिये क्या सबूत है ?"

"सबूत है। मेरा मन...मेरा दिल। मैं तुम्हारी छुवन पहचानती हूँ। तुम मेरे साथ नाटक करते हो। एक खूबसूरत नाटक। लेकिन मैं नाटक नहीं होने दूंगी। तुम्हारा यह अभिनय.. तुम्हारा वह ग्रीन-रूम...मैं खोज निकालूंगी...।"

"तुम हीन-ग्रन्थि की शिकार हो। तुम्हें अपने पर विश्वास नहीं है। काश ! कि तुम्हें विश्वास दिलाया जा सकता।"

"बस करिये...। मैं इन चिकनी-चुपड़ी बातों से तुम्हारे चंगुल में नहीं आने की। तुम मुझे बहुत ठग चुके। मैं अब और अधिक धोखा नहीं खा सकती।"

"तो मुझे छोड़ दो।"

"छोड़ दूंगी। ज़रूर छोड़ दूंगी। तुम क्या समझते हो, मैं इतनी बेहया हूँ। तुम्हारे बिना मेरा काम नहीं चलेगा।...मैं चली जाऊँगी...। पहले देख तो लूं... देखूं तो।"

"जब तुम कहती हो तो मान ही लो कि ऐसा है।"

इस पर वह क्षण भर को उसके चेहरे को उलट कर देखती। फिर कहती, "मैं तुम्हारे इस झूठ में नहीं आ सकती। समझे। मैं सच जान के रहूँगी। तुम मुझे चार-सौ-बीसी पढ़ाना चाहते हो। इसी तरह छुटकारा पाना चाहते हो। हाँ-हाँ क्यों नहीं ! कहीं इंतज़ार जो हो रहा होगा। लेकिन मैं तुम्हें इस तरह छोड़कर नहीं चली जाने की...।"

"तुम्हारा वह सच क्या है ?"

"मुझे नहीं मालूम...। मुझे कैसे मालूम हो सकता है। मैं क्या कर सकती हूँ।" वह बाहों में सिर गड़ा लेती और सिसकने लगती।

थोड़ी देर बाद वह शुरू कर देता। वह इस तरह मान जाती जैसे कुछ भी न हुआ हो। लेकिन वह हर क्षण दहशत से भरा हुआ रहता। न जाने कब,.. अगले किस क्षण वह टोक दे। उसकी उँगलियाँ काँपने लगतीं। वह संवादों की कल्पना करने लगता...। जैसे वह अभी पूछेगी, "उसकी जाँघें कैसी थीं। एकदम चिकनी। तभी तो...।" वह अपनी थरथराती हुई उँगलियां रोक लेता। लगता, उसकी

जांघों में हजारों सुनहले तीर घँपुसा रहे हैं...। लेकिन वह बंदस्तूर लगा रहता और खत्म करने के बाद नये सिरे से आहट होने की प्रतीक्षा करता।

उस दिन भीड़ में छिप जाने के बाद, एक बार तो उसने सोचा था कि 'वह' इत्तफाकन चला आया था और लौट गया होगा। लेकिन धीरे-धीरे उसका वह भ्रम दूर होने लगा। वह बहुत सजग हो गया। वह नहीं चाहता था कि उसके आने की आहट भी किसी को लगे। पत्नी के बात छेड़ने पर वह केवल नकार जाता या चुप रहने लगा। वैसे उसके बाद कुछ दिनों तक वह नहीं दीख पड़ा। पत्नी उसे उसी तरह उलटती-पुलटती रहती और उसके हर व्यवहार में भाँकने की कोशिश करती। वहाँ कुछ नहीं मिलता। वह अन्दर-ही-अन्दर 'उसकी' आहट लेता बैठा रहता। उसे, अब विश्वास हो गया था कि 'वह' कहीं भी मिल सकता है। 'वह' हमेशा के लिए लौट आया है और यहीं कहीं आस-पास ही छिपा हुआ है। या शहर के बाहर, नदी के किनारे या पुलों पर या खण्डहरों में घूमा करता है। उसे हर क्षण का पता है कि 'वह' उसे कहाँ पकड़ लेगा। वह अजीब ढंग से चौकन्ना रहने लगा। शाम होने के पहले ही वह घर लौट आता। रास्ता चलते हुए वह सीधे आगे की तरफ देखता। कभी-कभी पीछे आहट-सी लगती—भिप्-भिप्...भप्...भप्...धप्-धप...बालों के हिलने या उसके छोटे-छोटे गद्दीदार पाँवों की थपथपाहट। वह पीछे मुड़कर देखता। कहीं कुछ नहीं होता। सड़क के किनारे के नल से पानी की एक-एक बूँद टप-टप लगातार टपकती होती या दूसरी पटरी पर कोई लोजहा कुत्ता अपने छितरे बालों से नुची हुई, बदरंग गर्दन खुजलाता होता।...लेकिन एक दिन सुबह, अभी वह सोया ही हुआ था कि पत्नी ने आकर जगाया। बाहर कमरे की दीवारों पर अजीब-से बदशक्ल हाथों की छाप थी।...कीचड़ की छाप। किवाड़ों और बरामदों के फर्श पर भी। उसने पत्नी से कह दिया कि कोई कुत्ता या जंगली जानवर आया होगा। पत्नी को विश्वास नहीं हुआ। वह काफी हद तक डर गयी थी। उसका कहना था कि ये निशान किसी जानवर के हाथ-पैरों के नहीं हैं। वह तुरन्त समझ गया था।...तो वह यहाँ तक भी आया था...।

उसने दफ्तर से लम्बी छुट्टी ले ली और चुपचाप घर में पड़ा रहने लगा। "क्या

पर चली गयी। मुझे देखते ही वह कूद गया . ।" वह एक साँस में कह गयी। वह समझ गया और चुपचाप बैठा रहा।

"तुम कुछ बोलते क्यों नहीं ? यह कौन हमारे पीछे पड़ा है ? तुम्हें मालूम है तो बताते क्यों नहीं ? मैं इस तरह नहीं रह सकती। अभी उस दिन दीवारों पर नाखूनों की खरोंच दिखी थी···। यहाँ उसके लिए क्या है ?"

उसने उठ कर बत्ती जला दी। खिड़की के पर्दे के बाहर कुछ भी नहीं था। केवल सामने केले का एक नया-नया फूटा हुआ पत्ता हवा के इशारे पर 'नहीं-नहीं' की मुद्रा में लगातार हिल रहा था और 'सट-सट' की हल्की आवाज़ आ रही थी। वह जान-बूझ कर हँस पड़ा, "वह देखो, बेकार ही डरती हो"

पत्नी मानने को तैयार नहीं हुई। वह अपनी आँखों को धोखा नहीं दे सकती थी। लेकिन वहाँ कोई सबूत नहीं था। खिड़की के पर्दे के बाहर केले के पत्ते की लम्बूतरी-सी छाया डोलती दिखती। वह सोने की कोशिश करती। वह बैठा रहता। वह बड़बड़ाने लगती, जैसे डर से छूटने के लिए ऐसा कर रही हो..."तुम यह मकान छोड़ दो। मुझे शक होता है यहाँ कोई रहता है। मैं मकान मालकिन से पूछूँगी कल। लेकिन वह क्यों बताने लगी। अब मालूम हुआ, क्यों यहाँ लोग चार-छः महीने से ज्यादा नहीं टिकते। तुम्हारे न मानने से क्या होता है। यहाँ कोई छाया डोलती है। हाँ देखो जी, हँसकर मत उड़ाओ। तुम यह मकान छोड़ दो। दूसरा मकान 'सेफ' रहेगा। क्यों नहीं रहेगा ? जगह बदलने से सारी बातें बदल जाती हैं। . तुम आखिर क्यों नहीं मानते ?...मुझे दिन में भी कहीं निकलते डर लगता है। तुम्हारे कमरे की सफाई करने जाती हूँ तो अजीब-सा सन्नाटा लगता है। लगता है तहखाने वाली कुठरिया में कोई बन्द है। उधर देखने का साहस नहीं होता। क्या तुम कभी उसे खोलते हो ?...तुम आरामकुर्सी बिलकुल कोने में क्यों रखते हो ? अब भी जाओ खिड़कियाँ बन्द मिलती हैं। खोलकर क्यों नहीं जाते ? कितना गुम-सुम लगता है कमरा। बदबू आती रहती है...। उधर की गली भी तो कितनी गन्दी है। कल कूड़े के ढेर पर दो-दो काले पिल्ले मरे पड़े थे।...तुम शाम को जल्दी लौट आया करो जी। मुझे नींद नहीं आती। हर क्षण आहट-सी लगी रहती है। मैं यहाँ किसी से कह भी तो नहीं सकती.. । मैं...अब मुझे बहुत डर लगता है। तुम्हें कहीं, कुछ हो गया तो ?...सच . सुनो, मैंने तुम्हें बहुत तकलीफ़ दी है न। जब कि कहीं कुछ नहीं था। नहीं था न ? जानते हो मैं ऐसा क्यों करती

तुम बीमार हो ? तुम इतने चुप क्यों रहते हो ? क्या ऑफ़िस में कोई बात हो गयी है ?" पत्नी के ऐसा पूछने पर उसने कह दिया कि उसकी छुट्टियाँ बाक़ी हैं। नहीं लेगा तो बेकार चली जायेंगी। पिछले कुछ दिनों से वह काफ़ी थकान महसूस कर रहा है। बाहर जाना उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। वह कहीं नहीं जाना चाहता।...उसके इस तरह सजग और चुप हो जाने से पत्नी के मन पर एक-दूसरे ही तरह का असर हुआ। उसने समझा वह हार गया है। वह सच कहता था। कहीं कुछ नहीं था। उसका शक बेकार था।...धीरे-धीरे वह संतुष्ट नज़र आने लगी। वह उसकी तरह-तरह से फ़िकर करने लगी। जैसे वह घर में कोई मेहमान हो। वह आकर, उसके पास बैठ जाती और नये सिरे से स्नेहिल नज़रों से उसे देखती रहती। उसे विश्वास हो रहा था कि उसका अभीप्सित उसे मिल रहा है। पति के रूप में जिस तरह के आदमी की कल्पना उसके दिमाग़ में थी, वह उसे बिल्कुल वैसा ही अब लगने लगा था। चुप, उसके एकदम पास, निराश्रित-सा और उसका मुँह जोहता हुआ...। अपने अधिकार की इस वापसी से वह नये रूप में अपने को महसूस करने लगी और अप्रत्याशित रूप से नर्म पड़ गयी। पत्नी के इस परिवर्तन से उसके भीतर का यह नया अपराध तेज़ छुरी की तरह घाव करने लगता। जब कुछ नहीं था तो वह किस तरह तंग करती थी ! अब ? वह उसकी ओर देखता। वह उसे अत्यन्त दयनीय और सीधी लगती। वह उसे फिर से प्यार करने को सोचता। लेकिन दूसरे ही क्षण यह भोंड़ा विचार उसे अत्यन्त हास्यास्पद लगता और वह इंतज़ार करने लगता कि वह उठकर चली जाय और उस लहू-प्यासे के साथ उसे अकेला ही छोड़ दे। वह उठकर चली जाती तो वह अपने को परखने लगता। अपनी बाहों को, टाँगों को, बिस्तर को, आरामकुर्सी को...अपनी आवाज़ को या अपनी चुप्पी को। शीशे में अपने चेहरे को, आँखों को...होंटों को...ललाट को। कुछ नहीं होता—केवल माथे पर तीन गहरी खरोंचें उगतीं और फिर बुझ जातीं। वह फिर बाहर देखने लगता···।

आधी रात से ज़्यादा बीत गयी थी, जब सहसा पत्नी ने उसे जगाकर बैठा दिया। वह लगातार खिड़की की ओर देखे जा रही थी। वह बेहद भयभीत थी।... "वह देखो—वह...वहाँ। वह क्या था ? खिड़की की सलाखें पकड़े बैठा था। झूम रहा था और अपना लम्बूतरा-सा थूथन पर्दे के अन्दर ढकेल रहा था। मुझे बदबू-सी लगी थी। पहले मैंने बिस्तर पर देखा। तुम्हें...,बच्चे को। फिर मेरी नजर खिड़की

पर चली गयी। मुझे देखते ही वह कूद गया ...।" वह एक साँस में कह गयी। वह समझ गया और चुपचाप बैठा रहा।

"तुम कुछ बोलते क्यों नहीं? यह कौन हमारे पीछे पड़ा है? तुम्हें मालूम है तो बताते क्यों नहीं? मैं इस तरह नहीं रह सकती। अभी उस दिन दीवारों पर नाखूनों की खरोंच दिखी थी ''। यहाँ उसके लिए क्या है?"

उसने उठ कर बत्ती जला दी। खिड़की के पर्दे के बाहर कुछ भी नहीं था। केवल सामने केले का एक नया-नया फटा हुआ पत्ता हवा के इशारे पर 'नहीं-नहीं' की मुद्रा में लगातार हिल रहा था और 'सट-सट' की हल्की आवाज़ आ रही थी। वह जान-बूझ कर हँस पड़ा, "वह देखो, बेकार ही डरती हो"

पत्नी मानने को तैयार नहीं हुई। वह अपनी आँखों को धोखा नहीं दे सकती थी। लेकिन वहाँ कोई सबूत नहीं था। खिड़की के पर्दे के बाहर केले के पत्ते की लम्बूतरी-सी छाया डोलती दिखती। वह सोने की कोशिश करती। वह बैठा रहता। वह बड़बड़ाने लगती, जैसे डर से छूटने के लिए ऐसा कर रही हो..."तुम यह मकान छोड़ दो। मुझे शक होता है यहाँ कोई रहता है। मैं मकान मालकिन से पूछूँगी कल। लेकिन वह क्यों बताने लगी। अब मालूम हुआ, क्यों यहाँ लोग चार-छः महीने से ज़्यादा नहीं टिकते। तुम्हारे न मानने से क्या होता है। यहाँ कोई छाया डोलती है। हाँ देखो जी, हँसकर मत उड़ाओ। तुम यह मकान छोड़ दो। दूसरा मकान 'सेफ' रहेगा। क्यों नहीं रहेगा? जगह बदलने से सारी बातें बदल जाती हैं।.. तुम आखिर क्यों नहीं मानते?...मुझे दिन में भी कहीं निकलते डर लगता है। तुम्हारे कमरे की सफाई करने जाती हूँ तो अजीब-सा सन्नाटा लगता है। लगता है तहखाने वाली कुठरिया में कोई बन्द है। उधर देखने का साहस नहीं होता। क्या तुम कभी उसे खोलते हो?...तुम आरामकुर्सी बिलकुल कोने में क्यों रखते हो? अब भी जाओ खिड़कियाँ बन्द मिलती हैं। खोलकर क्यों नहीं जाते? कितना गुम-सुम लगता है कमरा। बदबू आती रहती है...। उधर की गली भी तो कितनी गन्दी है। कल कूड़े के ढेर पर दो-दो काले पिल्ले मरे पड़े थे।.. तुम शाम को जल्दी लौट आया करो जी। मुझे नींद नहीं आती। हर क्षण आहट-सी लगी रहती है। मैं यहाँ किसी से कह भी तो नहीं सकती..। मैं...अब मुझे बहुत डर लगता है। तुम्हें कहीं, कुछ हो गया तो?...सच. सुनो, मैंने तुम्हें बहुत तकलीफ दी है न। जब कि कहीं कुछ नहीं था। नहीं था न? जानते हो मैं ऐसा क्यों करती

थी ? मैं तुम्हें बहुत चाहती हूँ—बहुत। मुझे अभी भी...अभी भी मेरे मन से वो चीज निकल थोड़े ही गयी है। यह मत समझना कि ऐसा कुछ भी करोगे तो मुझ से छिपा रहेगा। लेकिन अब मैं उस तरह नहीं कर सकती। क्या मुझ में कुछ है। ...तुमने मुझे...तुमने मेरा सब कुछ...। मैं जानती हूँ। अब मुझमें क्या आकर्षण होगा। एक ही चीज...हमेशा-हमेशा वही-वही...। लेकिन तुम लोग क्या सिर्फ़ नयी-नयी चीज के पीछे ही भागते फिरते हो जी ?.. स्त्री हमेशा अधिक नैतिक होती है। उसका अपना पुरुष उसे रोज़ ही नया लगता है। लेकिन तुम लोग। मैं जानती हूँ...अगर तुम अपने संस्कारों और संकोचों से विरत हो जाओ तो एक बार वह भंगिन भी तुम्हें मुझसे ज्यादा रुचेगी। लेकिन मैं...? मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकती कि तुम्हारी वही चीज़ मुझ में . और उसके पहले किसी दूसरे में... या उसके बाद में भी..। तुम सोचते होगे, मैं कितनी गन्दी हूँ। कितनी ग़लीज़ बातें मुँह से निकालती हूँ। मैं तुमसे बताती हूँ, हर औरत ऐसे ही सोचती है।... अगर उसे मालूम हो जाय कि वह जूठन उठा रही है तो वह तुम्हें कभी क्षमा नहीं करेगी। सचमुच कभी नहीं क्षमा करेगी। विवशता में क्या नहीं होता लेकिन मन से इसका अहसास नहीं जाता।...नहीं ही जाता। कोई भी छिछड़ा क्यों पसन्द करेगी।...तुम कहोगे, इसके विपरीत बड़े-बड़े उदाहरण हैं . । तो वह केवल एक समझौता है। चाहे वह श्रद्धावश हो या स्वार्थवश..। ऐसी सारी औरतें आधुनिक बनने के नाम पर केवल अपने इस अहसास को छुपाती हैं . समझे।.. मैं यह सब ठण्डे दिल से कह रही हूँ। मुझे क्रोध नहीं है। ...मैं जूठन अपने अन्दर नहीं ले सकती।.. लेकिन अगर ऐसा है या हुआ तो...मैं...तो मैं . पता नहीं...ओफ़...! तुमने मुझे कितना छोटा और अपाहिज कर दिया है।" वह उलट कर पत्नी को देखता है उसकी एक आँख बाहों के नीचे दबी हुई है। उसमें से एक लम्बा आँसू निकल कर अपनी लकीर छोड़ता हुआ गाल के नीचे कहीं कानों की ओर गुम हो गया है।

छुट्टियों के बाद दफ़्तर का वह पहला दिन था। वह बड़ा खुश-खुश बाहर से लौटा था। बसन्त की शुरूआत थी। हवा में एक खुनकी और त्वचा पर उसके स्पर्श

की पहचान। जब कि अचानक महसूस होता है कि उसी शहर में हैं। और आखें एक परिचय की खोज में उठ जाती हैं—झरती हुई पत्तियों वाले पेड़ों की ओर या धुमैले आसमान और सूखना शुरू होती चिड़ियों की ओर...। यही पहचान लेकर वह घर लौटा था। सोने के कमरे में कोई नहीं था। पत्नी शायद रसोई में थी। वह बीच वाले दरवाज़े से ही अपने कमरे में चला आया। भीतर घना अँधेरा था और हवा लथपथ-सी।...यह एकान्त सच में एकान्त है। यहाँ कोई छाया नहीं है। थोड़ी देर अपने से मिला जा सकता है—उसने सोचा। उसने बत्ती नहीं जलाई, न ही कपड़े बदले, चुपचाप कुर्सी में धँस गया। फिर धीरे-धीरे अन्धकार के भीतर कमरे का एक-एक कोना, एक-एक चीज़—चीज़ों के करीने उगने लगे।...तभी, हाँ, तभी उसका भान हुआ। पहले उसे विश्वास नहीं हुआ। उसने आँखों के पपोटे दो-एक बार मसले और फिर पूरी आँखें खोल दीं। हाँ, 'वही' था—एकदम। लगता था, जैसे मेज़ पर अँधेरा घनीभूत रूप में बैठा है। और हिल रहा है। उसने उठ कर बत्ती जला दी। 'वह' मेज़ पर उँकड़ूँ बैठा हुआ ऊँघ-सा रहा था। रोशनी होते ही उसने अपनी आँखें खोलीं और उसे घूरता रहा। फिर वह उछल कर नीचे उतर आया और उसकी टाँगें सूँघने लगा। उसने देखा—'वह' पिछले दिनों की अपेक्षा काफी बड़ा हो गया था। तभी उसने जम्भाई ली। उसका जबड़ा, जो इस तरह देखने में काफी छोटा लगता था, एकाएक खुलने पर भयावह दिखने लगा। इतना कि उसका सिर 'वह' आसानी से उसमें पकड़ कर चबा सकता था। अन्दर लाल-लाल खुरदरी जीभ दिख रही थी और नीचे के जबड़े में दोनों ओर दो लम्बे, तेज़, नुकीले, पीले दांत विचित्र ढंग से चमक रहे थे। जैसे 'वह' मुस्कुरा रहा हो और उसकी वह मुस्कुराहट उसके दांतों में समा गयी हो।... सब से पहले उसने बीच का दरवाज़ा बन्द किया, खिड़कियाँ बन्द कीं, रोशनदान की रस्सी ढीली कर दी। फिर वह जाकर कुर्सी में धँस गया। अब क्या हो? उसे ऐसी ही आशा थी। वह शायद रोज़ ही यही सोचता था। अक्सर वह कमरे में आते ही बत्ती जला देता और चारों ओर देख लेता। लेकिन आज वह भूल गया था। ग़ाफ़िल पड़ गया था। यह मौसम का असर था। वह मौसम उसे उन दिनों की याद दिलाता था जब उसके पास कुछ भी नहीं था। जब वह रिक्त था और खुला हुआ सपाट...और सचमुच अकेला। वह लगातार यही सोचता रहा था कि उस तरह 'छायाहीन' होना क्या फिर सम्भव नहीं है? कहाँ सम्भव था! उसने देखा—'वह' उसकी पीठ पर अपने

थी ? मैं तु
चीज़ निक
से छिपा
...तुमने
होगा ।
नयी-नयी
होती है
जानती
चार व
कर स
या उ
बातें
अगर
करेंगे
से इ
करेंगे
समझ
बना
टप
सका
तुमने
देख

है। वह बीच में से गिलास उठा लेता है और 'सिप' करने लगता है। वह गलियारे में खड़ा-खड़ा आने-जाने वालों को घूरता है और उसे देखते ही पीछे लग जाता है। वह दफ्तर की मेज़ पर बैठ जाता है और ऊँघने लगता है। दफ्तर से वह 'उसे' ढोता हुआ अपने को घसीटता हुआ चला आ रहा है। कभी-कभी उसे लगता कि वह गहरी नींद में सोये हुए बच्चे की बगल में लेटा हुआ है या पत्नी की चारपाई के नीचे ऊँघ रहा है। वह कमरे में बैठा है और उसे दीख रहा है कि 'वह' काफी खिड़की के शीशों से, दरवाज़े के काठ से, दीवारों की ईंट, चूने-गारे या सीमेण्ट से या छत की खपरैल से छनकर कमरे के अन्दर चला आता है।

...सारे माहौल में एक सन्नाटा-सा बरसता होता। पत्नी एक छाया में बदल-सी गयी थी। वह सिर्फ चलती या आँखें फाड़ के देखती या अजीब-से दयनीय ढंग से मुस्कुराती या बच्चे को उठा कर पेशाब कराने लगती.. या नाक उठा कर हवा को सूंघती रहती।...गनीमत यही थी कि अभी वह दुर्गन्ध नहीं दे रहा था।

लेकिन एक दिन यह भी हो गया...काफ़ी दिनों बाद। शायद एक बरस या दो बरस...या कि पता नहीं...शायद जन्मान्तरों के बाद.. हाँ कुछ ऐसा ही लगता था। वह दो दिन तक कहीं नहीं गया। चुपचाप कमरे में पड़ा हुआ था। उसने पास जाकर देखा। क्या वह बीमार है या वह इतना सभ्य हो गया है। नहीं ऐसा कुछ भी नहीं था। उसने पाया कि वह अजीब तरह से बदबू कर रहा है। . शायद इस बदबू का पता उसे खुद भी हो गया था। अचानक वह बहुत डर गया। अब इसका पता लगना कठिन नहीं है। अब निश्चय ही यह रहस्योद्घाटन हो जायेगा . । एक दिन वह लौटा तो उसने पाया कि वह तहखाने में दरवाज़े के पास बैठा है। उसने दरवाज़ा खोला तो वह तुरंत अन्दर चला गया और बदबूदार हवा के भभके में विलीन हो गया। उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया और सिटकनी चढ़ा दी। फिर वह एकाध दिन तक इन्तज़ार करता रहा। 'वह' बाहर नहीं आया। बल्कि ज्योंही शाम को वह बाहर से लौटता, उसकी आहट पाते ही 'वह' तहखाने का दरवाज़ा खरोंचने लगता था। वह दरवाज़ा खोल देता। वह सारे कमरे को अपनी बदबू से भर देता। फिर वह उसकी कमर पकड़ लेता या उछल कर पीठ पर चढ़ जाता और झूमने लगता। यदि वह ज़रा भी प्रतिरोध करता तो वह लड़ने पर उतारू हो जाता और घुरघुराने लगता।...फिर एक नियम बन गया। शाम को लौटते हुए वह अपने को इस लड़ाई के लिए तैयार करता आता। तहखाने का

दोनों अगले पाँव रखे गर्दन हिला रहा है।...अचानक ही उसे ज़ोर का गुस्सा आ गया। उसने 'उसे' पकड़ कर दोनों टाँगों के नीचे दवा लिया और घूंसों से पीटने लगा। इस तरह एकाएक ताबड़तोड़ पीटे जाने पर पहले तो 'वह' हतप्रभ रह गया। शायद 'उसे' विश्वास नहीं हो रहा था। शायद 'वह' समझता था कि वह 'उसे' आया हुआ देख कर खुश हो जायेगा और चुमकारेगा। वह इस प्रहार को सहने के लिए विलकुल ही तैयार नहीं था।. फिर उसने ज़ोर की एक घुरघुराहट की आवाज़ निकाली और उछल कर उसकी पीठ पर चढ़ गया। उसने अपना जवड़ा खोला और उसकी गर्दन उसमें भर ली। लेकिन कुछ ही सेकेण्डों में उसने गर्दन छोड़ दी और नीचे उतर आया। फिर आकर उसकी टाँगों से लिपट गया और जीभ से उसके पैर चाटने लगा।

वह भौंचक-सा 'उसे' देखता रह गया। वैसे ही कुर्सी में पड़ा हुआ...थका और निढाल-सा।

दिन बीतते जा रहे थे। वह इस इन्तज़ार में था कि शायद 'वह' ऊबकर या हार कर खुद ही चला जायेगा। लेकिन वह कभी वाहर नहीं निकलता था। कमरा वन्द होते ही वह और अधिक निश्चिन्त हो जाता। अक्सर वह दिन भर आराम-कुर्सी पर बैठा झूलता होता या वार्डरोव में घुस कर बैठा रहता या रज़ाई तान कर खर्राटे भरता रहता उसके लौटने पर हमेशा वह आँखें किचमिचाता हुआ स्वागत-सा करता मिलता। जब कभी उसने उसे वाहर खदेड़ने की कोशिश की, वह लड़ पड़ता और उसकी पीठ पर चढ़कर झूमने लगता या उसके दोनों हाथ अपने जबड़े में भर लेता और कटकटाने लगता।...हारकर उसने उसे वहीं रहने दिया।... यह सारा-का-सारा क्रम उसे एक दिवा-स्वप्न की तरह लगता। वह चाय पीता होता या दोस्तों के साथ बैठा होता या कहीं ज़रा भी अकेला पड़ता कि वह उसी दिवा-स्वप्न में खो जाता। उसे लगता कि 'वह' धूप में तपते चौराहों पर, दफ़्तर के लम्बे अँधेरे ठण्डे गलियारों में, मसाले की दूकानों पर, सिनेमा हालों में, नदियों के किनारे, पिकनिक में, या चायखानों, शराबखानों या विवाह शादी के अवसरों पर, मेलों वाज़ारों या सुनसान सड़कों या ठण्डी दीवारों के आस-पास—हर जगह मौजूद

है। वह बीच मे से गिलास उठा लेता है और 'सिप' करने लगता है। यह गलियारे मे खड़ा-खड़ा आने-जाने वालो को घूरता है और उसे देखते ही पीछे लग जाता है। वह दफ्तर की मेज पर बैठ जाता है और ऊँघने लगता है। दफ्तर से वह 'उसे' ढोता हुआ अपने को घसीटता हुआ चला आ रहा है। कभी-कभी उसे लगता कि वह गहरी नींद मे सोये हुए बच्चे की बगल मे लेटा हुआ है या पत्नी की चारपाई के नीचे ऊँघ रहा है। वह कमरे मे बैठा है और उसे दीख रहा है कि 'वह' काफी खिड़की के शीशों से, दरवाजे के काठ से, दीवारो की ईंट, चूने-गारे या सीमेण्ट से या छत की खपरैल से छनकर कमरे के अन्दर चला आता है।

...सारे माहौल में एक सन्नाटा-सा बरसता होता। पत्नी एक छाया में बदल-सी गयी थी। वह सिर्फ चलती या आँखें फाड़ के देखती या अजीब-से दयनीय ढंग से मुस्कुराती या बच्चे को उठा कर पेशाब कराने लगती.. या नाक उठा कर हवा को सूघती रहती।...गनीमत यही थी कि अभी वह दुर्गन्ध नही दे रहा था।

लेकिन एक दिन यह भी हो गया...काफी दिनो बाद। शायद एक बरस या दो बरस...या कि पता नही...शायद जन्मान्तरो के बाद . हाँ कुछ ऐसा ही लगता था। वह दो दिन तक कही नही गया। चुपचाप कमरे में पड़ा हुआ था। उसने पास जाकर देखा। क्या वह बीमार है या वह इतना सभ्य हो गया है। नहीं ऐसा कुछ भी नही था। उसने पाया कि वह अजीब तरह से बदबू कर रहा है। . शायद इस बदबू का पता उसे खुद भी हो गया था। अचानक वह बहुत डर गया। अब इसका पता लगना कठिन नही है। अब निश्चय ही यह रहस्योद्घाटन हो जायेगा . । एक दिन वह लौटा तो उसने पाया कि वह तहखाने मे दरवाजे के पास बैठा है। उसने दरवाजा खोला तो वह तुरन्त अन्दर चला गया और बदबूदार हवा के भभके में विलीन हो गया। उसने दरवाजा बन्द कर दिया और सिटकनी चढ़ा दी। फिर वह एकाध दिन तक इन्तजार करता रहा। 'वह' बाहर नही आया। बल्कि ज्योंही शाम को वह बाहर से लौटता, उसकी आहट पाते ही 'वह' तहखाने का दरवाजा खरोंचने लगता था। वह दरवाजा खोल देता। वह सारे कमरे को अपनी बदबू से भर देता। फिर वह उसकी कमर पकड़ लेता या उछल कर पीठ पर चढ़ जाता और झूमने लगता। यदि वह जरा भी प्रतिरोध करता तो वह लड़ने पर उतारू हो जाता और घुरघुराने लगता।.. फिर एक नियम बन गया। शाम को लौटते हुए वह अपने को इस लड़ाई के लिए तैयार करता आता। तहखाने का

दरवाज़ा खोलते ही वह एक लम्बी उछाल लेता और उसके ऊपर सवार हो जाता एक दिन फिर उसने उसकी गर्दन अपने जबड़े में जकड़ ली। थोड़ी देर तो व इन्तज़ार करता रहा कि वह छोड़ देगा लेकिन दूसरे ही क्षण उसने उसके ते दाँतों को गड़ते हुए महसूस किया। उसने एक ज़ोर का झटका दिया तो व दूर जाकर गिर पड़ा। लेकिन वह फिर उछला और गर्दन दबोचने की कोशि करने लगा। यह असह्य था...। शायद वह कुछ और सोच रहा है— उसने ग़ौर किया। फिर उसने पटक कर घूसों से मारते-मारते बेदम कर दिया और तहख़ाने में डालकर दरवाज़ा बन्द कर दिया। उसके बाद उसने पाया कि वह ख़ुद उसकी बदबू में सना हुआ है। ऐसी स्थिति में सोने के कमरे में जाना असम्भव था। वह तख़्त पर बैठ जाता और सुस्ताने लगता...या अपने को व्यश करने लगता।... दूसरे दिन बाज़ार से वह ताँबे के तार ख़रीद लाया और उसे पटक कर उसके जबड़े कस कर बाँध दिये। उसके बाद वह हमेशा बौखलाया हुआ और क्रोधान्ध दीख पड़ता। सिवा लड़ने के वह कुछ नहीं करता था। यह लड़ाई कभी-कभी घंटों चलती और जब वह थक जाता या हार जाता तो भागकर तहख़ाने में घुस जाता...।

फिर दिन...हफ्ते...महीने...वर्ष...। अब उसकी आँखें और भी मिचमची लगने लगी थीं। तहखाना खोलते ही दुर्गन्ध का एक भभका निकलता और कमरे की रग-रग में बिंध जाता। ऐसा लगता कि सिर्फ़ एक दुर्गन्ध ही रह गयी है... ख़ूँख़ार और रक्त-पिपासु दुर्गन्ध...। उसके काले चमकीले बाल झरने लगे थे और उसकी खाल जगह-जगह खुरचकर बदरंग पड़ गयी थी। वह बिलकुल कंकाल हो गया था और थूथन पर कई छोटे-छोटे घाव उभर आये थे। लेकिन वह पहले से अधिक तीव्रता से आक्रमण करने लगा था और जल्दी परास्त नहीं होता था। कभी-कभी महसूस होता कि उसमें दुगुनी-चौगुनी शक्ति आ गयी है और आज वह ख़त्म करके ही दम लेगा...।

ऐसे ही में उस दिन वह सोने के कमरे में चला गया था। उस ख़ूँख़ार और रक्त-[illegible] के साथ। और फिर वह लौट आया था। पत्नी ने दूसरे दिन सुबह [illegible]व.ल भी किये थे। उसने हँस कर टाल दिया था। लेकिन, शायद, [illegible]रे फिर वापस आ रहा था। वह चुपचाप लेटी रहती और घूरती [illegible]र मुँह करके सिसकियाँ रोकने का प्रयत्न करती या बच्चे को

दरवाज़ा खोलते ही वह एक लम्बी उछाल लेता और उसके ऊपर सवार हो जाता। एक दिन फिर उसने उसकी गर्दन अपने जबड़े में जकड़ ली। थोड़ी देर तो वह इन्तज़ार करता रहा कि वह छोड़ देगा लेकिन दूसरे ही क्षण उसने उसके तेज़ दाँतों को गड़ते हुए महसूस किया। उसने एक ज़ोर का झटका दिया तो वह दूर जाकर गिर पड़ा। लेकिन वह फिर उछला और गर्दन दबोचने की कोशिश करने लगा। यह असह्य था...। शायद वह कुछ और सोच रहा है— उसने ग़ौर किया। फिर उसने पटक कर घूसों से मारते-मारते बेदम कर दिया और तहख़ाने में डालकर दरवाज़ा बन्द कर दिया। उसके बाद उसने पाया कि वह ख़ुद उसकी बदबू में सना हुआ है। ऐसी स्थिति में सोने के कमरे में जाना असम्भव था। वह तख़्त पर बैठ जाता और सुस्ताने लगता...या अपने को व्रश करने लगता।... दूसरे दिन बाज़ार से वह ताँबे के तार ख़रीद लाया और उसे पटक कर उसके जबड़े कस कर बाँध दिये। उसके बाद वह हमेशा बौखलाया हुआ और क्रोधान्ध दीख पड़ता। सिवा लड़ने के वह कुछ नहीं करता था। यह लड़ाई कभी-कभी घंटों चलती और जब वह थक जाता या हार जाता तो भागकर तहख़ाने में घुस जाता...।

फिर दिन...हफ्ते...महीने...वर्ष...। अब उसकी आँखें और भी मिचमची लगने लगी थीं। तहख़ाना खोलते ही दुर्गन्ध का एक भभका निकलता और कमरे की रग-रग में बिंध जाता। ऐसा लगता कि सिर्फ़ एक दुर्गन्ध ही रह गयी है... ख़ूँख़ार और रक्त-पिपासु दुर्गन्ध...। उसके काले चमकीले बाल झरने लगे थे और उसकी खाल जगह-जगह खुरचकर बदरंग पड़ गयी थी। वह बिलकुल कंकाल हो गया था और थूथन पर कई छोटे-छोटे घाव उभर आये थे। लेकिन वह पहले से अधिक तीव्रता से आक्रमण करने लगा था और जल्दी परास्त नहीं होता था। कभी-कभी महसूस होता कि उसमें दुगुनी-चौगुनी शक्ति आ गयी है और आज वह ख़त्म करके ही दम लेगा...।

ऐसे ही में उस दिन वह सोने के कमरे में चला गया था। उस ख़ूँख़ार और रक्त-पिपासु दुर्गन्ध के साथ। और फिर वह लौट आया था। पत्नी ने दूसरे दिन सुबह कुछ उल्टे-सीधे सवाल भी किये थे। उसने हँस कर टाल दिया था। लेकिन, शायद, उसका शक धीरे-धीरे फिर वापस आ रहा था। वह चुपचाप लेटी रहती और घूरती रहती। या दूसरी ओर मुँह करके सिसकियाँ रोकने का प्रयत्न करती या बच्चे को

पीट देती और स्तन छुडा लेती। उसे समझाना भी व्यर्थ लगता। वह करवट बदल लेता और धीरे-धीरे एक भूरी दीवार उसके सीने पर उगने लगती।

["क्या बात है? तुम बार-बार घड़ी की ओर क्यों देख रहे हो? कोई नहीं आने का। क्या तुम डरते हो। घड़ी का मुँह दीवार की तरफ ...। अब ठीक है? मुझे कोई डर नहीं है। आई फील सब्लाइम। क्या तुम जानते हो; उनके साथ मुझे कैसा लगता है ..जैसे कोई रीछ मेरे ऊपर झूम रहा हो। उबकाई आने को होती है। तुम विश्वास नहीं करते। तुम्हारे साथ? तुम तो एक बच्चे की मानिन्द लेट जाते हो। इतने साफ्ट . कोमल.. यह केवल मैं जानती हूँ...माई चाइल्ड . मेरे शिशु ..."] यह कौन बोलता है ..? कौन? वह उधर कमरे की आहट लेता है।

"नींद नहीं आती?" पत्नी पूछती है।

"जागना अच्छा लगता है।" वह कहता है।

पत्नी मुस्कुराती है। उठती है और जाकर खिड़की के पर्दे खींच देती है। वह फिर स्पर्श करता है। आंखों में कुछ अलग-सी आँखें । बाहें .. हड्डियों में भरा हुआ गोश्त। आश्चर्यजनक। नितम्बों की गोल सुडौल रेखाएँ...भरा हुआ कांपता वक्ष। सहसा हाथ में पत्नी के नन्हे-नन्हे सूखे स्तन आ जाते हैं वह गड जाता है और हाथ हटा लेता है।

"क्या हुआ?" के भाव से पत्नी आँखों से ताडती है। चुप है। वह समझ जाता है और बचने के लिए उनकी घुंडियाँ जोर से मसल देता है। वह चीखती है—एक रस-भरी चीख। वह एक खोखली हँसी हँसकर करवट बदल लेता है। फिर घूमता है और दबोच लेता है।

['साँस बदबू करती है। ना, पायरिया नहीं है। पहले गोमती में दिन-दिन भर तैरा करते थे। हर वक्त जुकाम बना रहता है। पीला-पीला कफ निकलता है। बिलकुल मवाद की तरह। सिर्फ इसीलिए चलते हैं। हजरतगंज में कोई औरत देखी। पीछे-पीछे घूरते हुए दो-चार चक्कर लगाया। लौट कर दो-चार कपड़े लिए और स्टेशन भागे...। ग्यारह बजे उतरे और आते ही नोचना शुरू...। ...यह तस्वीर देखते हो? मेरे पिता की है। तुम मुझे बिलकुल उन्हीं की याद दिलाते हो...। यू आर माई फादर। ऐसे शान्ति नहीं मिलेगी.. हां ऐसे...सो साफ्टली यू इ... अनइमेजिनेबिल...। माई फादर,.. अब तुम्हें नींद आ जायेगी,...।.. तुम...तुम्हें मैंने किडनैप कर लिया है...। मैं तुम्हे जाने नहीं दूंगी। गर चले भी गये तो मैं पीछा

करूंगी...। मैं लगी रहूँगी...। यह तुम्हारी सांस...यह तुम्हारा चन्दन की तरह महकता बदन...मैं इसमें छा जाऊँगी। क्या तुम समझते हो...इसे अनइमजिनेबिल?···देखना...।"] वह इधर-उधर देखने लगता है...। लगता है सारा कमरा एक दुर्गन्ध में डूबा हुआ है...। या यह पत्नी की आवाज़ है। नहीं, शायद . । तभी पत्नी कहती है, "मुझे तो नींद नहीं आती। प्लीज, मुझे माफ़ करो.. तुम बरसाते हो।...कल गर्म पानी से नहा लो। ये बिस्तर पर बाल किस चीज़ के हैं . ? इतने मोटे और काले-काले...," वह दो उँगलियों के बीच एक बाल को उठाकर मसलती है...। "ये तुम्हारे बाल हैं ..। यह बदबू.. तुम्हारी साँस में, बदन मे, काँख में... हथेलियों में...यह क्या है...अनइमैजिनेबिल...।"

वह उठता है और बाथरूम की ओर चला जाता है। उसका सारा मुँह एक कड़वे थूक से भर गया है। यही थूक वह सड़क पर भी थूकता रहता है। पीला-पीला थूक...। लेकिन थूकते रहने के बावजूद हर वक्त एक नमकीन स्वाद बना रहता है। क्या उसे पायरिया हो गया है ? वह कभी-कभी सोचता है—उसके मसूड़े ऊबड़-खाबड़ हो गये हैं और काले पड़ गये हैं। उसके नीचे वाली दंतपंक्ति में दाढ़ में दो नुकीले, लम्बे दाँत उग आये हैं और वे तालु में घाव कर रहे हैं। सुबह जब आईने में वह अपना चेहरा देखता है तो इस भ्रम को दूर कर नये विश्वास के साथ दिन शुरू करता है। लेकिन शाम होते न होते वही लिसलिसा, कड़वा, नमकीन थूक उसके मुँह में इकट्ठा होने लगता है। बार-बार वह पूरे दिन को थूकता रहता है... सारे अतीत को थूकता रहता है.. लेकिन वह चीज नहीं जाती। एक लुआबदार झाग-सी इकठ्ठी होती रहती है अन्दर-ही-अन्दर.. खून में मिली लिसलिसी-सी झाग...।

उस रात बाथरूम से लौटते हुए उसने निर्णय लिया था। अब बिल्कुल ही वक्त नहीं था। इस तरह सोचने विचारने या एक अनाम मोह में फँसे रहकर वक्त ज़ाया करने से कुछ भी हो सकता है। अब वह बहुत दुबला हो गया था। उसकी छाती पर हड्डियों का एक जाल उभर आया था। आँखें गढ़ों में चली गयी थीं और नासूर की तरह जलता मवाद उगलती रहती थीं। जब भी वह कमरे में आता, उसकी आहट पाते ही वह तहखाने के किवाड़ भयावने रूप से खरोंचने और घुरघुराने लगता। लगता वह उसकी छाती के अन्दर फेफड़ों को लगातार खरोंच रहा है। अब उसकी आँखों से वह पहचान एकदम गायब हो गयी थी। वहाँ जन्मान्तरों पार से एक अजनबी क्रूरता झाँकती रहती। दरवाज़ा खुलते ही वह मल्ल-युद्ध शुरू कर देता।

इधर लगातार उसे लगता था कि उसके जबडे को कसने वाले तार कुछ ढीले पड रहे हैं और उसका जबडा पहले से कुछ ज्यादा खुला रहने लगा है । उसने दुबारा तारो को कसना चाहा तो उसने पूरी शक्ति से इसका विरोध किया था और उसके हाथो को काट खाने लपका था। ..उसने तय किया —कल ही अगले दिन ही . । अब और नहीं चलाया जा सकता ।

उसका अनुमान ठीक था । वह तुला हुआ बैठा था । वह गुस्से में अन्धा हो रहा था। पहली ही उछाल मे वे गुत्थमगुत्था हो गये । वह भी तैयार था । . वह उसके दाव-पेंचो से वर्षों से परिचित हो चुका था ।उसने पाया कि वह खूंखार कमजोर पड रहा है । वह बार-बार उछल कर उसकी गर्दन दबोचना चाहता । लेकिन अन्ततः उसने 'उसे' पछाड दिया। और नीचे ले जा कर लगातार उसकी अंतड़ियो को घूंसों की मार से कूटने लगा। उसके जबडे पर उगे हुए नासूर बहने लगे और कमरे की हवा में जैसे एक मादक जहर घुल गया। गुस्से मे आकर उसने और भी जोर-जोर से घूंसे लगाने शुरू किये ।

थोडी देर बाद उसने महसूस किया कि 'उसकी' ओर से कोई प्रतिरोध नहीं हो रहा है। तो शायद वह. । तभी उसने लक्ष्य किया—'वह' चुपचाप नीचे पड़ा हुआ उन्ही खूनी निगाहो से उसे तक रहा था। जैसे 'उसे' कहीं भी चोट न आयी। वह सर्वथा निर्विकार-सा, तटस्थ, चुप और शान्त पड़ा था।

सहसा ही वह पस्त पड गया और जाकर तख्त पर ढह गया। उसके हटते ही वह उठा । एक बार उसने बडे जोर की जम्भाई ली और फिर उछल कर उसके ऊपर सवार हो गया। उसे लगा, वह धीरे-धीरे डूब-सा रहा है। बेहोश हो रहा है... तिरोहित हो रहा है। उसने देखा कि वह दीवारों पर अँधेरे मे अपनी छाप लगा रहा है। खिड़की की सलाखें पकड झूम रहा है। गलियों, मकानों, चौराहो, सड़को के मोड़ो और भरे बाजारो में ऊँघता हुआ टहल रहा है। उसने देखा कि वह उसकी पत्नी की बगल में लेटा है ..। तभी उसके जबड़े को कसने वाला तार, शायद, टूट गया। उसे लगा कि 'उसने' उसका सिर बीच से दो टुकड़े कर दिया है। फिर उसे लगा कि 'वह' अपना थूथन, फिर पंजे और फिर धड उसके फटे हुए सिर के बीच घुसेड़ रहा है . । एक भया- नक चिघाड उसे जैसे बहुत दूर से आती सुनाई दी.. ।

● ●

दुःस्वप्न

मैं उन्हें वहीं—पार्क में—छोड़कर चला आया।

और अब यहाँ, इस चूतियापे में फँस गया हूँ। और नहीं तो क्या। अब देखो, यह साला मेरे पीछे पड़ गया है। लोग कभी नहीं समझ सकते कि दूसरे के दिमाग़ में क्या चल रहा है। और वे महज़ गप्प के लिए ही सही, बातों में लगा देते हैं। मौसम, मँहगाई या ट्राम-बस की भीड़ या मिस्टर सेठ के प्रेम-सम्बन्ध या कपड़ों की चढ़ती क़ीमतों के बारे में राय माँगने लगते हैं। इससे अधिक दुखद स्थिति आदमी की और कुछ नहीं हो सकती। ...अब मैं इसे झटक भी नहीं सकता। यहाँ तक कि गालियाँ या अपशब्द तो मुँह से बाहर निकालना दूर, मैं इससे हाथ जोड़कर एक बनावटी सभ्य ढंग से माफ़ी भी नहीं माँग सकता। यह नहीं कि मैं इस तरह की कृत्रिमता का अभ्यस्त नहीं हूँ। मैं कर तो सकता था लेकिन यह बार-बार मुझे चौंका देता है। मैं उबलता रह जाता हूँ। और समय आगे खिसकता जा रहा है...।

और मुझे बार-बार लगता है कि वहाँ कुछ हो रहा होगा। या यह भी हो सकता है कि वे अपना निर्णय बदल चुके हों और रोज़ की तरह बिखर गये हों। मैं उनसे कह आया था कि लौटते वक्त मिलूँगा ज़रूर। – और हो सका तो एक बार उन्हें...यह मैंने सोचा था।

लेकिन यह ! पिछले एक घण्टे से मैं इसकी बातें मानता आ रहा हूँ और यह मुझे एक दूकान से दूसरी दूकान तक टहला रहा है और कुछ भी खरीदने नहीं देता। और मुझे तरह-तरह की शंकाएँ घेरे ले रही हैं। बल्कि अब तो स्थिति यह हो गयी है कि मैं खरीदने की बात भी भूल गया हूँ और लगातार कभी इसके बारे में और कभी उन लोगों के बारे में सोच कर परेशान हो रहा हूँ। कितने कमीने लोग हमारा ध्यान बेवजह अपनी ओर खींच लेते हैं। और फिर लगता है, कुछ नहीं हो सकता। मैं बता दूँ कि अपनी सारी दुष्टताओं के बावजूद, अभी भी,—किसी न्यायोचित कारण के लिए भी—मैं किसी को अपमानित नहीं कर सकता। तुमने कितनी बार झुँझलाकर इस

तरह के अवसरों की मुझे याद दिलाई है, जब मैं सच के पक्ष में होते हुए भी उल्टे पराजित और अपमानित हुआ हूँ। लेकिन मैं क्या करूँ ! एक अजीब तरह का संकोच मेरा पीछा नहीं छोड़ता। अपनी इस कायरता की वजह से मैं तबाह हूँ। और इस समय भी भुगत रहा हूँ। जब यह मुझे बहुत परेशान करने लगा तो मैं समझ गया, यह कोई दलाल है। दलालों के मिठबोलेपन से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। लेकिन यह पहली बार ही देखा कि कपड़े की दूकानों के दलाल रण्डियों के दलालों से कम शातिर नहीं होते। कैसी चुपड़ी बातें बना रहा है। और कितनी आसानी से, जैसे सारी बातें रटी-रटायी हों ! सिर्फ भाषा के मामले में यह कमजोर पड़ रहा है। वैसे किस तरह तुरंत इसने सूँघ लिया कि मैं कोई ग़ैरभाषी हूँ। सच कहूँ, मुझे लिजलिजेपन की अनुभूति पहली बार इसकी 'बोली' सुनकर ही हुई थी। तुम अच्छी तरह जानती हो, मैं प्रान्तीयता में विश्वास नहीं रखता। लेकिन यहाँ कलकत्ते में जब कोई बंगाली, हिन्दी बोलने की कोशिश करता है तो मेरी गर्दन में पीछे की तरफ कोई पंखदार कीड़ा रेंगता हुआ सिर में चढ़ने लगता है। यह मेरी कमजोरी हो सकती है। लेकिन सच यही है...इस आदमी में हत्यारे की शक्ल उभरती दीख रही है और इसकी जबान सुनकर एक खूबसूरत औरत की कुचली हुई लाश... जिसे मैंने सड़क पर एक बार कभी देखा था।

मैं क्यों उबल रहा हूँ। मेरी परम अनैतिक शान्ति क्यों भंग हो गई है ! क्या इसलिए कि मेरा दिमाग अभी भी 'उन्हीं' की तरफ लगा हुआ है ? या कि 'यह' मुझे अपनी ओर लगाए ले रहा है ? और सोचने की फुर्सत नहीं देता। असल में मैं जल्दी खरीद-फरोख्त करके तुम्हारे पास आना चाहता था। कितने कम संयोग हमें इस तरह के मिलते हैं ! फिर मैं घर जाता और लेटकर ...। मैं जानता हूँ, लेटकर फिर मैं निश्चिन्त हो जाता और अपने अन्दर की सम्पूर्ण स्वार्थपरता के सामने नंगा होकर गहरी नींद में सो जाता। अक्सर मैं बातों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लेता और भयानक दुर्घटनाओं के प्रति भी स्वार्थ का भाव रखता हूँ। जब तक कि मेरी अपनी हानि न हो, न मैं उत्तेजित होता हूँ, न किसी का नैतिक पक्षधर। ऐसा मैं कभी किया करता था—एक मिशनरी की तरह। अभी तुम मेरे प्रति बहुत भावुक हो

लेकिन एक दिन मान लोगी कि अतीत के प्रति ईमानदारी निभाना हमारे लिए किसी भी अर्थ में सम्भव नहीं है।

बहरहाल !...फ़िलहाल तो मैं उन्हीं में उलझा हुआ हूँ। यह कहना कठिन होगा कि मैं उन्हें जानता हूँ। सच बस इतना ही है कि मैंने उन्हें देखा है। वहाँ,उस पार्क के सामने वाले कमरे में रहते हुए मुझे कितने साल हो चुके हैं। मेरी नींद सुबह जल्दी खुल जाती है और अक्सर आँखें मलता हुआ मैं बार्जे पर आ खड़ा होता हूँ। इस खयाल से कम कि मुझे सुबह की ठंडी हवा पसन्द है या कि मैं स्वास्थ्य के बारे में अतिरिक्त सतर्क हूँ बल्कि इस खयाल से ज्यादा कि उठने पर मुझे कुछ नहीं सूझता। लगता है, मैं किसी अनहोनी विपत्ति में फँस गया हूँ। मेरा शहर रातों-रात भूमध्य-रेखा के पास चला गया है या पार्क-सर्कस के पास कहीं ज्वालामुखी फट पड़ा है ..। एक खालीपन और अपने को समेट पाने की सोच...। मैं सिर्फ़ आश्वस्त होने के लिए वहाँ आ खड़ा होता हूँ।...तभी वे मुझे दिखाई दे जाते हैं। पार्क के एक कोने में जहाँ फेंस कुछ ऊँची है, एक झण्डा सुबह की हवा में उड़ता होता है। वे सेल्यूट करते होते हैं अथवा क़वायद। एक आदमी उन क़वायद करते लड़कों में से एक के चूतड़ पर चट्ट से हथेली जमा देता है। इसका मतलब अभी तुम नहीं समझ सकतीं। यह उनकी क़वायद या संगठन का अंग नहीं है। खैर, कुछ दूर खड़े दो व्यक्ति, जो सम्भवतः उनके नेता होते हैं, क्षण भर को मुस्कराते हैं, फिर आपस में इशारों में कोई बात करते हैं और दूसरी ओर चेहरा घुमा लेते हैं।... मैं कमरे में लौट जाता हूँ। फिर किसी रेस्त्राँ में, या बड़ा-बाज़ार, भवानीपुर, पार्क-सर्कस या रासबिहारी एवेन्यू के फुट-पाथों पर मैं उन्हें झुण्ड-के-झुण्ड चलते हुए देखता हूँ। वे कोई भी हो सकते है : कोई जरूरी नहीं कि वे किसी झण्डे के नीचे ही दिखायी दें। लेकिन उनमें एक बेशकल एकरूपता है।.. अक्सर मुझे लगता है कि मैं नींद में चल रहा हूँ।

शायद उस पार्क में ही—अपने उस बार्जे पर से—या कहीं फुटपाथ पर हम अनायास पड़े होंगे। या कहीं, किसी रेस्त्राँ में उनके उत्तेजित, पसीने से चमकते साँवले चेहरों ने मुझे आकर्षित कर लिया होगा। दूसरी टेबिल पर से मैंने उनकी बातों पर कोई सधा-सा रिमार्क कस दिया होगा...। अब मुझे भी ठीक से याद नहीं आता। कोशिश करने पर आज सिर्फ़ कुछ इसी तरह की सम्भावनाएँ सामने आती हैं। एक परिचय का धुंधलका भर है यहाँ वहाँ, मेरे चारों ओर लिपटा हुआ।

एक दिन शायद, उन्होंने मेरी 'राय' मांगी थी। 'क्या वे गम्भीरतापूर्वक ऐसा सोचते हैं?' —मेरा सवाल था? वे सब हँस रहे थे—मैंने देखा। और उनके साथ मैं भी हँस रहा था। 'आप तो भाई साहब! ऐसे निश्चिन्त हैं, जैसे कुछ न होने वाला हो। कुछ हो तो लुत्फ़ आ जाय। जरा खून में गर्मी आवे।' इस पर मैं सोचता कि वे ऊब रहे हैं। उन्हें कोई काम नहीं है। वे अपना मनोरंजन कर रहे हैं। लेकिन क्या वे अपने मनोरंजन को 'उस हद' तक ले जायेंगे? सचमुच, मुझे तो लगता है कि दुनिया भर में व्याप्त अराजकता के पीछे एक भयानक बोरियत ही कारण है। हमें कोई मौलिक कार्यक्रम दीजिए, हम आपका गला टीपना छोड़ देंगे। (.. कालेज जाते समय मैं पार्क-सर्कस पर ट्राम से कभी-कभी उतर जाता हूँ। गफ्फारखाँ सैनेटोरियम में मेरे साथ थे। वहाँ भी वही बात। 'भाई साहब, क्या हम बैठे देखते रहेंगे? हमारा खून गर्म नहीं है क्या?' गफ्फारखाँ उन्हें डाँट कर चुप कराना चाहते हैं। मुझे जाने को कहते हैं। वे सब भी उसी तरह हँसने लगते हैं. ।)

मैं सच कहता हूँ—वे कॉफी 'सिप' करते होते हैं और कैफे-द-मोनिको की खिड़की से टर्मिनस की भीड़ पर नजरें गड़ाये होते हैं। मनोरंजन के लिए उनके सामने होते हैं, चिकन के कुर्ते, जूते की दूकानें, बोतलों से भरे शराबखाने, रेडियो-ग्राम के सेट और . चिथड़े-चिथड़े अंतड़ियाँ । मैं सिर्फ अचम्भे में आ जाता हूँ। उन्हें सब्र नहीं है। वे अपना खून गर्म रखना चाहते हैं या कुछ और? वे कितनी सच्चाई और कितनी आसानी से ऐसी बातें करते हैं। वे कितनी गहराई और निरर्थकता से इसमें विश्वास करते हैं। यह कौन सा धर्म है? कोई भी हो, क्या फ़र्क पड़ता है! मैं हमेशा से सोचता आ रहा हूँ कि उनके चेहरे उत्तेजना में चमकते रहने चाहिए। दुनिया बहुत बदल गयी है और हमारे लिए कोई दूसरा रास्ता शेष नहीं है। 'ठीक'—उनमें से एक लगभग चीखता हुआ कहता है, 'यही तो हम भी कहते हैं। नहीं तो फिर हमें जहन्नुम में जाने से कोई रोक नहीं सकता।' वे एकाएक बहुत खुश हो जाते हैं। वह अपने से ही बोलता चला जा रहा है। उसके मुक्के से टेबिल पर रक्खी क्रॉकरी खड़खड़ा उठती है तो सहसा मैं होश में आता हूँ। 'नहीं, नहीं, मेरा मतलब वह नहीं है।' लेकिन वे किसी की बातों का मतलब समझने की कोई जरूरत नहीं समझते। कितनी ही बार ऐसा हुआ है। वे विनम्रता-पूर्वक नमस्कार करके नीचे उतर जाते हैं और भीड़ में इधर-उधर बिखर जाते हैं। बस की क्यू में टेढ़े होकर खड़े हो जाते हैं। या अपनी हिप-पॉकेट से सिगरेट-

लाइटर निकाल कर आपस में सिगरेटें सुलगाते हुए अपने चेहरों को एक-दूसरे के निकट लाकर आँखों में गहरे झाँकते हैं, गोया उनके पास बड़े भयानक रहस्य हों। लेकिन बस इतना ही।...फिर उनकी रुचियां बँट जाती हैं। वे किसी भूमिगत संगठन के सदस्य तो हैं नहीं कि तीर की तरह एक ही दिशा में चले जायँ। वे अवसर बिखर जाते हैं और अकेले होते ही उनके चेहरों पर एक थकान और अनिर्णय छा जाता है। वे चटपट जेब से कंघी निकाल बालों के पट्टे सँवारने लगते हैं और अपने अन्दर हो लेते हैं। तब वे शायद अपने को पहचानते हैं। उनकी ज़रूरतें तब कुछ और होती हैं। उनकी सच्चाइयां और अन्दर के सम्बन्ध उनके सामने फैल जाते हैं तब वे अपने-अपने घर की राह लेते हैं— किसी लड़की या न हुआ किसी अधेड़ औरत को ही घूरते हुए ..।

तुम कहोगी, मैं क्यों इतना परेशान हूँ। दर असल थोड़ी-सी परेशानी की बात है। मुझे लगता है कि मैं कहीं उनमें जुड़ तो नहीं जाऊँगा। हाँ, मैं ध्यान से कपड़े भी नहीं देख रहा हूँ। नहीं, इसकी वजह यह भी है कि मैं इस आदमी की बातों पर बिलकुल कान नहीं देना चाहता। और यह...मुझे छोड़ना नहीं चाहता। और मैं भी तुला हुआ हूँ। मैंने इसे उबा नहीं दिया तो मेरा नाम नहीं। अन्दर घुसते ही इसने मुझे पहले ही दूकान पर पकड़ लिया। मैं कुछ तौलिये निकलवाकर देख रहा था कि यह आकर मेरे बग़ल में बैंच पर बैठ गया और उन्हीं तौलियों को छू-छू कर पसन्द करने लगा। मैंने सोचा था, कोई ग्राहक होगा। तभी पहली बार इसने कहा था, 'ये भालो नहीं? नहीं? हय भालो?' और मेरी ओर निगाहें फेंकता हुआ शायद मुस्करा दिया था। मुझे याद है, इसकी मुस्कराहट की परछाईं का आभास मिलते ही मैं भी मुस्करा दिया था और इसके इस पहले वाक्य के लिजलिजेपन से जान छुड़ाने के लिये मैंने उसकी बात पर हामी भर दी थी। बस, फिर क्या था! इसकी बौछार शुरू हो गई और मैं सकते में आकर तभी से...। हरामख़ोर, किस तरह टोहते रहते हैं। ज़रूर यह मुझे कोई मोटा आसामी समझे बैठा है। और ठगने के लिए कैसे-कैसे करतब दिखा रहा है। जहाँ इसका काम बना, अपने सारे करतब

बीच ही में छोड़ यह रफूचक्कर हो जायगा और फिर किसी पान की दूकान या सड़क की रेलिंग से सटकर खड़ा हो जायगा और जिनसे नफरत करता है, उन्हीं का इन्तज़ार करेगा।

...बच्चू, मैं सब समझ रहा हूँ। तुम क्यों मेरी ज़रूरत की सारी चीज़ों के बारे में इतनी तत्परता से पूछताछ कर रहे हो। चाहे तुम लाख कहो, मैं उधर, उस कोने वाली दूकान में नहीं जाने का! वहाँ चीज़ें उचित दामों में मिलती हैं। और सब तो दिखावा है। तुम उसी दूकान के दलाल हो। तुम जो तरह-तरह के कपड़े निकलवा कर देखते हो, दूकानदार द्वारा बताई कीमत पर मुस्करा कर मिल के थोक भाव, बिक्री-कर, मुनाफ़ा और ठगी सब-का-सब उजागर कर रहे हो,—मैं इन भुलावे में नहीं आने का! तुम मुझे चरका नहीं दे सकते! तुम जो दूकान के बाहर निकलते ही इन मुनाफ़ाखोरों का हुलिया बिगाड़ने लगते हो...'हरामखोर, मूर्ख, गुण्डे,.. इन्हें भरे चौराहों पर गोलियों से उड़ा देना चाहिए। देख लीजिएगा, एक दिन यही होगा। ये सभी बलि के बकरे हैं और मज़े में पकवान खा रहे हैं। ये जो मुटा रहे हैं और भारी-भारी जबड़े खोल कर मोटी उबासियाँ ले रहे हैं, एक दिन लोग बन्दूकों के कुन्दे इनके जबड़ों में घुसेड़ कर फाड़ डालेंगे!' अपनी ये भविष्यवाणियाँ रहने दो तुम। ऐसे अर्थहीन वाक्यों से तुम मुझे क्या, इस देश में किसी को भी प्रभावित नहीं कर सकते। तुम्हारा मन्तव्य मेरे सामने प्रकट है। तुमसे पेशेवर बहुत देखे हैं मैंने। तुम जिस क्रान्ति की बात करते हो, उसका असली रूप मैं अभी-अभी, वहाँ पार्क में देख के आया हूँ।

उसकी खिलखिलाहट सुनकर मैं तिलमिला उठता हूँ। और घूमकर उसकी ओर देखता हूँ। वह हतप्रभ हो जाता है और उसी लिजलिजी शैली में माफी माँगता है, 'क्षमा के माफी दीजिए, क्षमा कीजिए।' शायद मैंने पहली बार इसे ध्यान से देखा है। दुबला, नरककाल। आँखें चढ़ी हुई। लेकिन कपड़े साफ़ हैं। दाढ़ी बनी हुई है। सिर गंजा है। पीले और उभरी हुई नसों वाले हाथों में सूखी टहनियों जैसी उँगलियाँ बोलती-सी लगती हैं। मुझे हमेशा लगता है कि आदमी की उँगलियाँ उसके चेहरे से अधिक भावपूर्ण होती हैं और सच्चाई के अलावा कुछ नहीं कहतीं। ...मेरे घूरने से उसका चेहरा अत्यन्त दयनीय हो उठा है, जिसे वह अपनी मुस्कराहट की आत्मीयता से ढँकना चाहता है। क्षण भर को

मुझे हल्की-सी उलझन होती है। लेकिन यही मेरी कमज़ोरी का क्षण है। मुझे हथियार नहीं डाल देना चाहिए। मेरी आवाज़ फट जाती है...। 'तुम जाते हो या नहीं। मुझे कुछ नहीं चाहिए। जाते हो या मैं ।' मैं पसीने से तर हूँ। भयानक उमस है। बल्कि हमेशा रहती है। यहाँ बाहर से अन्दर आते ही जैसे किसी भट्ठी के थोड़ा और पास खिसक रहे हों। मैंने उस तबाह करने वाले अपने सर्वव्यापी संकोच को झटक कर अलग रख दिया है। उसे जैसे यक़ीन नहीं आता। यक़ीन नहीं आता कि मैं उससे इस तरह का उजड्ड व्यवहार कर सकता हूँ। उसका मुंह खुला रह गया है और मुझसे दो क़दम के फ़ासले पर वह अभी भी कुछ इस तरह खड़ा है जैसे अगले ही क्षण में उसे छुरा घोंपने जा रहा होऊँ। दो-चार लोग अगल-बग़ल इकट्ठे हो गये हैं और उत्सुकतावश पूछताछ करने लगे हैं। वहाँ होने वाले किसी भी काण्ड से बिलकुल तटस्थ वह इधर-उधर ताक-झांक करने लगा है। अब उसे आशा नहीं रह गई है। उसके चेहरे पर वक़्त बरबाद करने की झुँझलाहट और परेशानी भरा 'कुछ न कर सकने' का भाव घिर आया है, जिसे वह क़मीज़ की निचली जेब में ठुँसा हुआ धोती का छोर निकाल कर बार-बार पोंछ रहा है। ...मैं चल पड़ता हूँ। लेकिन मुझे आभास लग रहा है कि वह मेरे पीछे-पीछे आ रहा है। हमारी परछाइयां कभी-कभी एक दूसरे को काटती हैं।

"शुनून मोशाय, शुनून तो।" अचानक वह पीछे से हलके-से मेरा कंधा छूता है। मैं घूमकर खड़ा हो जाता हूँ। ..."आप उस दूकान पर जाइए तो ना आमि मित्था बोल्बी ना", वह मेरे चेहरे की ओर देखता है,—"ना ना आमि शे किच्छु नेई...आपनि जा...। आमि तो...आमि बोलबो। प्रथम आपनि जान तो...हम जायेगा नहीं, विश्वास करुन, हम ओई खाने की प्रतीक्खा करेगा... ।" वह सामने खम्भे की ओर इशारा करता है।

शायद यह उसका अंतिम प्रयत्न है। वह और भी दयनीय हो उठा है। मेरी नज़र उसकी सूखी टहनियों पर है। वे चटचटाकर टूटते हुए कुछ कह रही हैं। क्या उसने मुझे खुश कर लिया है या कि मेरे निर्णय को बदल दिया है ? नहीं, कहीं बहुत गहरे शायद वही बात है कि मुझे कपड़े सस्ते मिल जायँ तो ठीक ही है। मैं उसे वहीं छोड़ उस दूकान में घुस जाता हूँ। ...कपड़े निकलवाते हुए मैं घूम कर उसकी ओर देखता हूँ। वह खम्भे से टिककर बीड़ी पी रहा है और बुझ गया है। मुझको चाहकर भी इस बार खुशी नहीं होती, बल्कि एक हल्की-सी परेशानी...।

दूकानदार को अपनी ओर घूरता पाकर मैंने मुँह के सामने हथेली कर ली है। मई-साँझ जम्हाइयाँ। मेरे टखनों में दर्द हो रहा है और नींद आ रही है। सुबह से ही आज—पहले वहाँ, फिर गफ्फार खाँ के यहाँ फिर अखबार की सुर्खियों में या बस की खिड़की पर सिर टिकाये हुए...। मैं आजकल सारे दिन सोता रहता हूँ—

. . . .

. . . . .

कर। . वे अभ्यास कर रहे थे। उन्होंने बनावटी निशाने बना रक्खे थे। और उनमें गोलियाँ दाग रहे थे। अब इसका क्या करूँ कि मुझे सड़क चलते हुए भी इस तरह के दृश्य या आवाज़ें सुनाई पड़ती हैं या आज गफ़्फ़ार खाँ के मकान के भीतरी हिस्से में भी। जब मैं चौंक पड़ा था और उन्होंने मुझे इलायची पकड़ा दी थी। क्या वह पटाखों की आवाज़ है। दीवाली निकट है। और वे पार्क में ऊबे हुए भोंडा मनोरंजन कर रहे हैं। तुम फिर कहोगी, मैं बहुत उलझी-उलझी बातें कर रहा हूँ। कमाल है! क्या तुम आज के आदमी की जिन्दगी में भी सुलझी हुई विश्वसनीय बातें देखना चाहती हो—कहानियों की तरह! इसके लिए तो तुम्हें किसी बुड्ढे खूसट के पहलू में सोना चाहिए था। वही तुम्हें बहुत नरम, सुलझी हुई और सुखद भविष्य की बातें बताता . । तुम नहीं जानतीं कि वे अभ्यास करते हुए लोग भोले, अन्तर्मुख और खूँखार हैं। मुझे उस वक्त, जब मैं उन्हें छोड़कर चला आया, सब कुछ मज़ाक़ लग रहा था। वे तय कर रहे थे। वे उस नये रंगरूट का इम्तहान लेना चाह रहे थे। वे उसे उत्तेजित कर रहे थे। वह बार-बार हाँ-में-हाँ मिलाता लेकिन उसके तुरत बाद उसके चेहरे पर एक झाँई पड़ जाती। लेकिन यह, शायद, उसके लिए एक चुनौती थी और वह इन्कार नहीं कर सकता था। उन्होंने तय किया कि वे अपेक्षाकृत किसी निर्जन सड़क पर इसका 'प्रयोग' करेंगे। उन्होंने कुछ गलियों या पार्क के किनारों के नाम गिनाये। वे सिर्फ उसकी हिम्मत देखना चाहते थे। फिर वे बातें करने लगे थे। अपने उन्हीं इरादों की याद करके हँस रहे थे। बहाने के लिए वे एक शब्द का—एक अर्थहीन शब्द का—जब-तब प्रयोग करते थे—मुसलमटे...। लेकिन इससे वे कुछ भी व्यक्त नहीं करते थे।...इस सम्बन्ध

में वे किसी भी 'दुश्मन' को नहीं छोड़ेंगे। आँख मूँद कर क़तार-की-क़तार साफ़ कर देंगे। उन्हें वे दूकानें और वस्तुएँ याद थीं, जिन्हें वे लूटना चाहते थे...। अब इसी बात पर मैं तुम्हें अपने पागलपन की एक बात बताता हूँ...। इधर काफ़ी दिनों से सड़क पर चलते अवसर मुझे गांधी का नर-कंकाल दिखायी दे जाता है। खोखली आँखें...अन्धी, छड़ी के सहारे रास्ता टटोलती हुई। पसलियों का नर-कंकाल। खुली गुफा जैसा मुँह...बिल्कुल नंगा...जिसकी खाल तक उतार ली गई है...। फिर हवा में उड़ते हुए फेन की तरह यह सब टूट कर छितर जाता है। मैं भौचक्का-सा उधर देखता रह जाता हूँ। .. तुम्हें यक़ीन नहीं आता न। किसी को भी नहीं आयेगा। मैं भी यक़ीन नहीं करना चाहता और इन सारी बातों को दुःस्वप्न की तरह भूल जाना या टाल जाना चाहता हूँ ..। लेकिन।

मैंने उनसे कुछ पूछा था। सम्भवतः दुश्मनों के बारे में। वे खूब जोर से ठहाके लगाकर हँस पड़े थे। मेरा पूछना व्यर्थ था। वे ठहाके लगाकर मेरा अपमान कर रहे थे। मुझे क्या ग़रज़ पड़ी थी! वे मुझे उलझा रहे थे। उनके कई एक नारे थे और उनमें आकर्षण भी कम नहीं था। तर्क में वे पोढ़े थे और मैं उनकी बातें काट भी नहीं सकता था। मानवता की दुहाई देना अपना उपहास कराना था। उनमें से एक ने दूसरे पर फब्ती कसते हुए कहा भी था, 'चल साले, बड़ा आया है विवेकानन्द की दुम।' मैं समझ गया, यह वाक्य किसकी तरफ़ फेंका गया है। तभी अचानक मुझे ध्यान आया और मैं चल पड़ा था। वे इतनी उत्तेजना में थे कि फ़िलहाल मेरे जाने पर उन्होंने अपनी नफ़रत-भरी निगाहें नहीं फेंकीं। लेकिन वे हँस रहे थे। उन्हें विश्वास तो नहीं ही आया था। वे जो भी शब्द सोचते हों, ठीक हो सकता है...कायर, भगोड़ा, डरपोक। ये यहाँ आम आदमियों के सतोगुण हैं।...विश्वास की बात छोड़ो। तुम्हें तकलीफ़ होगी, अगर मैं सच बात कह दूँ तो...। क्योंकि हम सब सच को नकारने के आदी हो गये हैं। क्या हर हिन्दुस्तानी अन्दर से 'जनसंघी' नहीं हैं? छोटे-बड़े सभी। यह और बात है कि कोई अपने बीवी-बच्चों के लिए 'जनसंघी' हो, यह दलाल अपने पैसों के लिए, मैं अपनी प्रेमिका के लिए और जवाहर लाल अपनी पदलोलुपता की रक्षा के लिए। मैं जानता हूँ, यह सुनकर तुम्हें अच्छा भी लगेगा (क्योंकि मैं तुम पर अपना अधिकार जता रहा हूँ।) और तुम घबरा भी जाओगी और अँधेरा ढूँढ़ने लगोगी, जहाँ तुम इस सच्चाई को स्वीकारते हुए भी अपना चेहरा छिपा सको। छोड़ो, यह 'सच' उपहासास्पद है। मुझे

मालूम है, लोग इसमें से 'सच' को निकाल देंगे और 'उपहासास्पद' अपने पास रख लेंगे और वक्त-बेवक्त मेरी उपेक्षा या मेरा अपमान करते रहेंगे। वैसे, मैं इस अपमान से कतई दुखी नहीं होऊँगा। उनकी ट्रैजेडी जग-जाहिर है। वे सब भी मेरी ही तरह लगातार बीस वर्षों से एक खूबसूरत भ्रम के शिकार हैं।

मुझे दुकानदार से बार-बार क्षमा माँगनी पड़ रही है। मैं उसकी बातें नहीं सुन पा रहा हूँ। ..मुझे कपड़े सचमुच अपेक्षाकृत कम कीमत पर मिल गये हैं। अब उस आदमी से जरा...। वह अभी तक खम्भे से टिका खड़ा है और अपनी बीड़ी की तरह बुझा हुआ कभी-कभी अपनी ही साँस के इशारे पर, कारों की रोशनी में भभक उठता है।

अब हम दोनों सड़क पर चल रहे हैं। सिर झुकाये हुए—एक-दूसरे के बराबर। वह कभी-कभी कुछ बोलने की कोशिश करता है। मुझे जवाब देना या आँखें मिलाना तक भारी लग रहा है। उसकी आँखों से भी कृतज्ञता छलक-छलक पड़ती है और वह अपना पहले का अपमान भूल-सा गया है। गो कि जल्दी में है, साथ ही वह एक सभ्य आदमी के तौर-तरीक़े से परिचित है और अपनी कृतज्ञता को उसकी प्रति में बनावट नहीं बन जाने दे रहा है, फिर भी उसकी यह विनम्रता मुझे और ज्यादा मथ रही है। मैंने कई दफा सोचा है कि उससे माफी माँग लूँ। लेकिन तब वह और अधिक कृतज्ञ हो उठेगा और मैं उसकी कृतज्ञता के खूँखार ऑक्टोपस के पंजे से पूरी तरह दबोच लिया जाऊँगा। अतः मैं चुप हूँ और अब दूसरे ढंग से भुगत रहा हूँ। मैंने उसे पहले क्यों नहीं ..? क्या मैं उन लोगों में इतना उलझ गया था कि...? हाँ, शायद यह ठीक है। मैंने उसकी शक्ल तक देखनी नहीं चाही थी।

"आपने शुरू में ही क्यों नहीं बता दिया? मैं...।" मैं दूसरी ओर देखते हुए कहता हूँ।

वह और पास लपक आता है। आगे को थोड़ा-सा झुककर उसी विनम्रता से कहता है, "आप तो विश्वास नहीं करता...आप सोचता...।"

किस्सा मुख्तसर यों है। कपड़े लेकर मैं बाहर आया और उसे कुछ देने लगा।

मैं थक गया था और लगभग उसको सोच से छूट गया था। लेकिन उसने तभी फिर मुझे चौंका दिया। ...उसने पैसे लेने से इन्कार कर दिया और पास ही के एक दवाखाने तक चलने को कहने लगा। मैंने कहा कि वह पैसे ले ले और चला जाय। तभी उसके हठ करने से मुझे लगा कि वह विश्वास दिलाना चाहता है। मैं चुप, उसके साथ हो लिया। वहाँ उसने कुछ दवायें लीं और बिल चुका देने के लिए मुझे काउंटर पर खड़ा कर दिया। मैंने पर्चे पर सरसरी-सी नज़र डाली ...'खोका, उम्र दो साल, मेनन्जाइटिस'। मैंने पैसे दे दिए और बुझा हुआ खड़ा रहा। मनुष्य के बारे में जितनी गहराई से जानने का दम्भ मैं रखता हूँ, उसके बावजूद कभी-कभी साधु-संतों की बातें बड़े ही उथले ढंग से सच मालूम देने लगती हैं। इन बातों में क्या रखा है! जबकि रोज़ हज़ारों लोग और हज़ारों घर अलग-अलग कारणों से तबाह हो रहे हैं। लेकिन, मैं बुझ गया हूँ, और पछता रहा हूँ। मुझे लगता है, मैं धीरे-धीरे फिर चिढ़ने लगूँगा,—अपने इस ज़रा से हृदय-परिवर्तन पर। क्योंकि दुनिया में अब हृदय-परिवर्तन जैसी अनैतिकताओं की गुंजाइश नहीं है। फिर ? फिर मुझे ऐसा क्यों महसूस होता है ? क्या इसलिए कि यह घटना मेरी निजी रोशनी के दायरे में भभक उठी है ? ...उसने यह भी कहा कि वह उस तरह बोलने का आदी नहीं है। वह नाटक कर रहा था, क्योंकि नाटक से आम लोग आज भी खुश हो जाते हैं। उसने यह भी बताया कि कई जगह से निराश होने के बाद ही उसने ऐसा सोचा था और उसके लिए वह कितना अधिक लज्जित है। ...अब मुझे उसे ट्राम पकड़ा देनी है।

यहाँ हल्का धुँधलका है। दोनों ओर ऊँचे मकान हैं। इतने ठण्डे (पसीने से भीगे हुए के समान) और चुप मकानों को देखकर, पता नहीं क्यों मुझे रवीन्द्रनाथ की याद आती है। कलकत्ते में ऐसे मुहल्लों में जाने पर बेमतलब विचित्र-सी रहस्य-कथाओं में विश्वास होने लगता है। मैं थोड़ा सुरक्षित महसूस कर रहा हूँ, क्योंकि बत्तियाँ दूर-दूर हैं और वह मुझे ठीक से देख नहीं पा रहा है। मैं सोच रहा हूँ कि ट्राम-स्टैण्ड जितनी जल्दी हो, आ जाय।

वह शायद कुछ कहना चाहता था। लेकिन मैंने उसका ध्यान दूसरी ओर लगा दिया है मैं घूमकर खड़ा हो गया हूँ। यह दिखाते हुए कि जैसे किसी ने मुझे आवाज़ दी हो। वह भी उधर ही देखने लगा है।...या कि मेरा भ्रम सच है। सचमुच उधर से मुझे कोई आवाज़ दे रहा है ओह, ये तो वही लोग हैं। 'कहिए भाई साहब,

खुब आते रह गये।

वे मुझे कनड़ों के ब-... ....

क्या उन्होंने इरादा बदल दिया है। पता कर लेना चाहिए। इसको पैसे दे दूं। इसे देर हो रही होगी। मैं उसकी तरफ़ मुखातिब होता हूँ। धुंधलके में उसके पीछे चेहरे की रोशनी और उँगलियों में पकड़ रक्खी दवाइयाँ...। वह मुस्कराता है। नहीं, कोई बात नहीं। वह इतना कृतघ्न नहीं है। वह थोड़ी देर रुक सकेगा, साथ के लिए...। मुझसे कुछ कहते नहीं बनता...।

"हेल्लो भाई साहब!"

मैं मुस्कराता हूँ कि मैंने सच कहा था। वे सभी हमारे इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गये हैं और खामोश हैं। मैं उस लड़के की ओर देखता हूँ। वही, जिसका इम्तहान होने वाला था। वह चुप है लेकिन तना हुआ है।

"आपका परिचय?" वे सब उसकी ओर देखते हैं।

"मेरे एक मित्र...मिस्टर...।" मैं नाम के लिए उसकी तरफ़ देखता हूँ।

"एम० दास गुप्ता।" वह दवाइयों सहित हाथ जोड़कर नमस्कार करता है।

वे सभी एकटक उसकी ओर देखते हैं। शायद सभी कुछ कहना चाहते हैं। या उनमें से एक ने कहा भी—"आप अपने दोस्त का नाम भी।" नहीं, यह बात मेरे भीतर उठी थी। एक बगूले की तरह। मेरे दिल को चारों ओर से दबोचती हुई। मैं कुछ कहना चाहता था। उसी से। कि वह पैसे ले ले और चला जाय। या कि उनसे। कि क्या वे बस-स्टैण्ड की तरफ़ जा रहे हैं? लेकिन वे और घने हो गये थे और चुप थे। तब? एक इशारा था—महज़। पलक मारते ही। मेरे मुँह से निकला—'नहीं...ईईई।' लेकिन यह 'नहीं...ईईई' एक ज़ोर की चीख़ में विलीन हो गया। वहाँ, फुटपाथ पर टूटी हुई मिक्स्चर की शीशी, टूटे इंजेक्शन और डिस्टिल्ड वाटर के सफ़ेद काँच सहित खून में लथपथ एक आदमी छटपटा रहा है...कुछ लोग भागे जा रहे हैं। महज़ एक भीड़। और पुलिस को बुलाने का इन्तज़ाम और एम्बुलेंस के लिए फ़ोन करने की बात...।

मैं नहीं कह सकता कि तुम्हारा इससे मनोरंजन होगा या नहीं। इतना मैं

जानता हूँ कि तुम यह सब सकते में आकर सुनोगी और मुझसे कुछ आशा करोगी। कि फिर? उसके बाद? क्योंकि तुमने बावजूद मेरे मना करने के सारी औरतों की तरह मुझमें ढेर सारे आदर्शों, गुणों और नैतिकताओं की तो कल्पना कर ही रखी है ..। लेकिन मैं सच कहता हूँ। मैं इन सभी की तरह कहीं भी जा सकता हूँ — किसी वेश्यालय में, या पुस्तकालय में या रेस्त्राँ में या फ़िलहाल तुम्हारे साथ किराये के सुखद बिस्तर में। मैं भी सब के साथ शामिल हो गया हूँ। मैंने भी उत्सुकता की नक़ाब पहन ली है। कि यह बेचारा कौन था? वे लोग कौन थे? मैं बस चुप हूँ। कोई मुझसे पूछ रहा है और मैं किसी दूसरे से पूछने का अभिनय करने के लिए मुख़ातिब हो जाता हूँ।

सहसा मुझे पीछे से कोई छूता है : मैं भय से सिहर उठता हूँ। नहीं, कोई नहीं। ये लोग आगे बढ़ रहे हैं, उसे देखने के लिए। मैं भीड़ में धीरे-धीरे पीछे खिसक रहा हूँ।

सब ठीक हो जायेगा

मकान के सामने टैक्सी रुकी उस वक्त खूब तेज पानी बरस रहा था। सड़क से दरवाजे तक जाने के लिए खुली, सकरी गैलरी पड़ती थी। बारिश इतनी तेज थी कि उतनी ही देर मे भीग जाने का डर था। मैंने सोचा, टैक्सी रुकने की आवाज सुनकर नीचे वाले तल्ले मे रहने वाले मिश्रा की नीद जरूर खुल गयी होगी और वह अभी खिडकी खोल कर झाकेगा। रास्ते भर मुझे बार-बार यह खयाल आता रहा था कि शायद मिश्रा खिडकी खोलकर चुपचाप बैठा होगा और बाहर देख रहा होगा। . तभी मैंने खिडकी की ओर निगाह डाली। एकाएक अजीब-सा लगा। अभी तक मैंने खयाल नही किया था। मिश्रा के कमरे की दोनो खिड़कियाँ खुली थीं और हवा के तेज झोको के साथ ही बौछार अन्दर जाती और खिड़की के पल्लो के खुलने और बन्द होने की आवाज होती— खट्टाक खट्ट, खट्टाक खट्ट ...खट्टाक ..। फिर बिजली की कौंध मे मैंने देखा—कमरा एकदम वीरान है और फर्श पर टूटी हुई पत्तियों और कागजो की सरसराहट बौछार और हवा के साथ मिल कर एक अजीब-सी ध्वनि पैदा कर रही है। . न जाने क्यो ऊपर से नीचे तक मैं एक बारगी सिहर गया।

"उतरना नही है बादशाओ ?" सरदार ड्राइवर ने सिगरेट पीते हुए मुझे कन-खियों से देखा।

मैं उससे छाता लेने की बात कह, टैक्सी से उतर गया। गैलरी पार करके फाटक के अन्दर दाखिल होते ही मैंने देखा, मिश्रा का दरवाजा भी सपाट खुला हुआ है। हवा की सरसराहट मे कमरा अजीब ढग से सिसकारियाँ भर रहा था। जीने की बत्ती जलाने के लिए मैंने अधेरे मे स्विच टटोल कर दबाया तो वह 'चट्' से बोल कर रह गया। जीने के दूसरे मोड की चौड़ी वाली जगह मे मकान-मालिक का लडका बाबू एक बोरे पर गन्दी-सी चादर मे लिपटा सो रहा था। एक बार इच्छा हुई कि बाबू को जगाऊँ और पूछूँ। लेकिन सरदार ड्राइवर का खयाल आते

ही मैं फिर जल्दी-जल्दी सीढ़ियां तय करने लगा।

दुबारा सामान लेकर लौट रहा था तो बाशू ने एक बार पालतू कुत्ते की तरह सिर उठाकर देखा था और फिर मुंह ढककर सो गया था। मुझे लगा कि बाशू को कोई उत्सुकता नहीं है। यह इसलिए होगा कि मिश्रा मकान-मालिक से लड़कर गया हो जैसे कि कुछ माह पहले केलकर चला गया था। फिर यह भी खयाल आया कि शायद मकान-मालिक के आवारा, गुण्डे लड़कों ने किसी बात का बहाना लेकर उससे लड़ाई की हो और ज़बरदस्ती निकाल दिया हो। और बहानों की कमी भी क्या थी? लेकिन मिश्रा! उसका क्या दोष! ऐसे भी बेचारा कितना 'मीक' आदमी था।

मैंने दक्षिण वाली खिड़की खोल दी। लैम्प-पोस्ट के आस-पास तिरछी बूंदों की अनवरत धार चमक रही थी और सड़क के पार दूसरी पटरी पर एक कमरे में हरी बत्ती का हल्का प्रकाश था।...ऐसी ही बारिश में मिश्रा कभी-कभी ऊपर वाले छत के दरवाजे पर या सीढ़ियों पर उँकड़ूँ बैठ रहता। अगर अपने कमरे में होता तो उसे रात-रात भर नींद नहीं आती और खिड़की खोल-कर वह बिस्तर पर बैठ जाता और अजीब-सी सूनी नज़रों से बारिश को घूरा करता। उसके कमरे की लाल बत्ती जलती रहती और खिड़की से बाहर उसकी सुर्ख रोशनी में बारिश ऐसी लगती जैसे लगातार खून बरस रहा हो। मिश्रा रह-रह कर उड़ती निगाह बग़ल में सोयी हुई अपनी बीबी पर डालता। फिर हल्के हाथों से धीरे-धीरे उसे सहलाता। बीबी करवट बदल कर कुनमुनाती, फिर गहरी नींद में खर्राटे लेने लगती। सब कुछ भूल कर वह नींद में श्लथ उसकी देह निहारने लगता। उसके हाथ-पाँव की नसें अकड़ने लगतीं और सिर के बालों में सनसनी होने लगती।

"क्या बात है? मुझे सोने क्यों नहीं देते?" बीबी फिर करवट बदलती।

वह कुछ नहीं बोलता। उसके हाथ जहाँ-के-तहाँ रुक जाते। वह फिर बारिश की खूनी झाग को सूखी आँखों से देखने लगता। और जहाँ कोई कार या टैक्सी आती, उसकी रोशनी से बचने के लिए अपना चेहरा छिपा लेता।

मुझे जब मिश्रा यह सब बतलाता, तो मैं खासी हैरानी में पड़ जाता। वह मुझसे यह सब एक आत्मालाप के रूप में कहता। बहुधा वह छत पर लेटा हुआ आसमान की ओर देखता रहता और लगातार बोलता जाता। सड़क के लैम्पपोस्ट

से आती हुई आडी-तिरछी रोशनी मे मैं उसका चेहरा, उसका मूड या उसकी बातो की वास्तविकता भांपने की कोशिश करता। वह एकाएक चुप हो जाता और मेरी ओर देखकर मुस्कराता। कहता, "आप एक दिन मान लेंगे मि० माथुर कि सेक्स मात्र एक शारीरिक आवश्यकता है।"

मुझे आश्चर्य होता कि उसने कौन सी बात कह दी।

"मुझे भी याद आता है," वह उसी तरह बोलता जाता, "पहाड टूटते रहते हैं। कमरे मे भयावनी आवाजें, अजीब-सी लपलपाती जीभें और तख्त की चरमराहट...। जब भी करवट बदलता हूँ, लगता है कोई और है। मुझे हमेशा अजब-अजब पसीनो की बू आती है। रोटी में मोटे-मोटे बाल दिखते है । पानी मे सफेद माड-सी कोई चीज मिली लगती है। हवा मे सिगरेट और ह्विस्की की गन्ध। हर जगह कपडे पहनने की सरसराहटे या बूटो की आवाजें.. दुनिया मे उफ...। लगता है, अभी कोई सडक पर पकड लेगा और जूते लगाता चला जाएगा। फिर ठहाके-पर-ठहाके। क्या इस तरह से पागल लोग सोचते हैं ?. हे ईश्वर !" वह एकाएक जैसे दम तोडता-सा लगता।

"चलो नीचे, अपने कमरे मे चलकर बैठते हैं। यहां ओस बहुत पड़ रही है। तुम बीमार हो।" मैं कहता।

लगता जैसे उसने सुना नही। मैं चन्द मिनटो तक उसका इन्तजार करता, फिर नीचे चला आता।

बहरहाल, सुबह देखा जाएगा। मि० दास या उनके लडके जरूर जाकर पूरी कहानी बयान करेंगे। लेकिन नीद नही आ रही थी। नीचे मिश्रा का दरवाजा इतने जोर से बन्द होता और खुलता कि जब भी आख झपकती, लगता किसी ने धक्का देकर मुडेर से नीचे गिरा दिया हो और मैं चिहुक कर जाग जाता। खट्टाखट्ट, खट्टाक .. खट्टाक...। लगता जैसे नीचे कोई गडा हुआ तिलस्म खोदा जा रहा है और पत्थरो पर फावडों की आवाज आ रही है—खट्टाक . खट्टाक.. खट्टाक . और फिर 'हू-हू' करती, अंधेरे को घिसती हुई हवा की गूज।

'''पहले दिन जब इस मकान मे आया था, तब मिश्रा नीचे के कमरे मे नही

रहता था। केवल उसकी बीवी रहती थी। दोपहर का समय था। होल्डाल और ट्रंक कमरे में डाला नहीं कि मि० दास के साथ उनके तक़रीबन आधे दर्जन लड़कों ने मुझे घेर लिया। वे सब गन्दे कपड़ों में थे और नरकंकाल भिखारियों जैसे लगते थे। मि० दास को खुद दमे का रोग था। वे एक आर्म्स-स्टोर में काम करते थे। रिटायर होने के दिन निकट थे। पूरे मकान में केवल नीचे का बैठक वाला बड़ा कमरा उन्होंने अपने लिए रखकर शेष किराये पर उठा दिया था। बीच का बड़ा हिस्सा केलकर के पास था। पीछे के एक कमरे में कोई रंगनाथन अपनी बीवी के साथ रहता था। सड़क पर सामने वाला गैरेजनुमा कमरा उसने मिश्रा की बीवी को दे रखा था। जो कमरा मुझे मिला वह ठीक गैरेज के ऊपर था। उसके ऊपर खुली छत थी, जिस पर सबका समान अधिकार बताया जाता था।

"चलिए, प्रथम हम आपको हैण्डपाइप दिखाएगा।" मि० दास ने कहा।

यह सुनते ही उनके सारे लड़के मुस्कराते हुए नीचे की ओर भागे। मैं मि० दास के साथ सीढ़ियाँ उतरने लगा। तीन-चार सीढ़ियां उतर कर ही उन्होंने पुकारा, "बाशू ." फिर उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया, मुस्कराये—"हमको एइ एस्थेमा बोहुत परेशान करता है। वृद्ध मानुष... !"

नीचे उतर कर जिज्ञासावश मैंने मिश्रा के कमरे की ओर इशारा किया—"इसमें कौन रहता है ?"

मि० दास ने अपने मोटे-मोटे होंठ बिदोर दिए, "नो, नो मि० माथुर, मत पूछिए। शि इज़ ए बिच . ।" मैं आश्चर्य से उनकी तरफ़ देखने लगा। फिर हम लोग सँकरी गैलरी से होकर सहन में आ गए। दास ने खुद दो-एक बार हैण्ड-पाइप चलाकर मुझे दिखाया, जैसे कोई करिश्मा दिखा रहे हों, "सो ईज़ी...ईवन ए मैन लाइक मी कैन.. और सबसे बड़ी बात तो यह है मि० माथुर कि आप खूब मोटा हो जायगा। ऐसा माफ़िक जल समस्त कलिकाता में आपको मिलने नहीं सकता। एक हमारा बेटी...उसने रंगनाथन की बीवी की तरफ इशारा किया, "एकदम लीन एण्ड थिन था। अब देखो। वो मिसेज़ मिश्रा आया तो कैसा था—पीला-पीला टी० बी० का पेशेण्ट माफ़िक। अब एकदम रेड.. स्कार्लेट...जवान हो गया। हम बोलता है जो ऐसा माफ़िक जल आपको मिलने नहीं सकता। एइ बाशू। शाला . ए आमार छैलेरा शब .." उन्होंने एक गहरी साँस खींची।

उस दिन शाम तक मैं अपना सामान ठीक करता रहा। शाम को थोड़ी देर

पहले मि० दास फिर आये। बोले, "हमारा बाड़ी भालो तो ? आपको पसन्दो आया ? बाथरूम देख लिया ?" मैं हर बात पर स्वीकारात्मक सिर हिलाता गया "आमि एकटि कथा बोलते चाइ," मि० दास फुसफुसाए, "यह जो नीचू में जनाना रहता है न..."

"मिसेज मिश्रा ?" मैंने कहा।

"अरे मिसेज-विसेज किच्छु नेइ बाबा। सब मगत्तो...। हम इतना ही बोलता है जे आप किच्छु सम्बन्ध नही रखियेगा। हम तो परेसान है। रखना नेइ चाहता। किन्तु रोने लगती है। हमारा बेटी मारिक तो है। दया आ जाता है। किन्तु... आमि आपना के बोलची। आपनी तो भद्र लोक।"

मि० दास के चले जाने पर लेट गया। सिर में दर्द था। सारा बदन दिनभर की परेशानियों से चूर-चूर हो गया था। साढ़े आठ के क़रीब बज रहे थे कि किसी ने फिर दरवाज़ा खटखटाया। मुझे थोड़ी-सी झुंझलाहट हुई। फिर मि० दास कौन सा सन्देश लेकर पधारे। उठकर मैंने दरवाज़ा खोल दिया।

"आप नये किरायेदार मि० माथुर हैं न ?"

"जी हाँ।"

"मैं नीचे के कमरे में रहती हूँ... मिसेज मिश्रा।..."

मैंने अभिवादन के लिए हाथ जोड़ दिए।

"आप अँधेरे में कैसे लेटे है ?"

"बल्ब लाना भूल गया था।"

"मेरे पास बहुत हैं," वे नीचे जाने को मुड़ी, "आइए ले लीजिए।"

मैं चुपचाप उनके साथ नीचे उतरने लगा। ज़ीने के घुमाव पर मि० दास का कोई एक लड़का खड़ा था। हमें देखते ही भागा नीचे की ओर। फिर गैलरी से उसकी आवाज़ सुनायी दी, "बाबा, मेजदा, बाबूदा...।"

वे इस पर हंसी—"कुत्ते।"

कमरे के दरवाज़े पर ही मैं खड़ा रह गया फिर उन्होंने दो बल्ब पकड़ाते हुए कहा, आपको लाई इसलिए कि कहीं आप यह न समझें, कि एहसान लाद रही हूं। इलेक्ट्रिफिकेशन का ही धंधा है मेरा। यहां के कई सिनेमा हाउसेज का ठेका है। पैराडाइज, रोगल, भारती, भवानी, प्रिया...। काम बहुत रहा है। कम-से-कम दो टोकरे बल्ब पड़े हैं। रंगीन चाहिए तो दूं ?"

"नहीं, सफेद ही ठीक हैं।" मैंने कहा।

"मकान-मालिक से भेंट हुई?"

"जी।"

"हैण्ड-पाइप दिखलाया उसने?"

इस पर हम दोनों को हँसी आ गयी। गैलरी में किसी लड़के के क़दमों की आहट सरक गयी। मैं हँसता हुआ ऊपर चला आया। अँधेरे में कुछ ज़्यादा उन्हें नहीं देख सका था। लम्बी-सी, दुबली, कुछ झुकी हुई, साँवले रंग की औरत। मेक-अप ख़ूब गहरा। चेहरा—आकर्षणहीन। पूरी बातचीत, चाल-ढाल, व्यवहार, हँसी—सब में एक बनावटीपन की छाया। जैसे हर बात पर यह अहसास हो कि 'यह ऐसे नहीं—ऐसे' होना चाहिए। मुझे लगा कि इस औरत की नींद भी बनावटी होगी। फिर मुझे इस ख़याल पर खुद ही हँसी आ गयी।

काफी रात गए नींद में मुझे लगता रहा, कहीं कोई प्रार्थना कर रहा है। सुबह मैं बड़ी देर तक सोचता रहा कि यह प्रार्थना वाला सपना मैंने कैसे देखा।

इसके ग़ालिबन आठेक महीने बाद एक दिन उनके कमरे में जाना हुआ। इस बीच बहुधा सुबह जब मैं आफ़िस जाने के लिए नीचे उतरता, तो उनके दरवाज़े में हमेशा ताला बन्द मिलता। शाम को मैं, केलकर बैठकर गप्पें लगाते या लेक की ओर निकल जाते। लौटते वक्त गैलरी में जब हमारी पदचापें सुनायी पड़तीं तो सहसा उनके कमरे के अन्दर कुछ आवाज़ें चुप हो जातीं। गैलरी की ओर की दोनों खिड़कियां बन्द मिलतीं। केलकर मुझे घूर कर देखता और तेज़ी से अपने कमरे का दरवाज़ा खटखटाता। बीबी दरवाज़ा खोलती तो वह जल्दी से अन्दर घुसकर धड़ाम से दरवाज़ा बन्द कर लेता। मैं ऊपर जाकर कभी-कभार छत पर बैठा रहता या कमरे में बत्ती बुझा कर लेटा रहता। छत के नीचे अजीब-सी आवाज़ें उठतीं और सुइयों की तरह छत को बेधकर कमरे में झुनझुनी पैदा करतीं। लगता सारे बदन पर एक साथ ढेर-सारे पिन चुभ रहे हैं। केलकर ने कई बार मुझसे कहा कि यदि मैं मि० दास से अपने डिस्टर्बेन्स की शिकायत कर दूं तो इस कुतिया को यहां से निकालना आसान हो जाएगा। मैंने रंगनाथ से पूछा, जो मेरे पहले इस कमरे में

रहता था। मालूम हुआ कि वह दास से कई बार लड़ चुकी है—'मैं अपने बिजनेस की बात न करूँ! मेरे यहाँ बड़े-बड़े लोग आते हैं तो इसको कुढ़न होती है। सांस फूलती है और बीबी को हर साल लादे रहता है। जैसा खुद है वैसा ही दूसरों को समझता है। जब इसे सिनेमा के पासेज मिल जाते थे, मिसेज मिश्रा बड़ी पवित्र थीं, पतिव्रता थीं, अच्छी थीं। अब नहीं मिलते तो मिसेज मिश्रा खसलत वाली हो गयीं। पहले अपनी लड़की को क्यों नहीं सुधारता जो गैलरी और बाथरूम में सारी दोपहरी मुहल्ले के लौंडों से लुका-छिपी खेलती है। सब रखते हैं बीवियाँ और राल टपकती है दूसरी औरतों को देखकर। कमीने..।'

"बाप रे! बड़ी खतरनाक औरत है। तुम केलकर के कहने में न आना। मेरी बीबी तो मुझी पर शक करने लगी थी। कहती थी—'जरूर तुमने कोई हरकत की होगी जिससे उस रॉंड ने 'राल टपकने' वाली बात कही है।' वह कब, क्या तोह-मत लगा बैठे, मालूम नहीं। तुम्हारा डिस्टर्बेन्स होता है तो, बेहतर है तुम कहीं और मकान ढूंढ लो।" रघनाथ ने कहा।

फिर भी मैं केलकर के कहने पर मि० दास के पास एकाध बार गया। लेकिन वहाँ सारी स्थिति ही बदल गयी। दास पहले ही इतनी भद्दी-भद्दी गालियाँ बकने लगते कि मुझे ताव आ जाता और शिकायत करने की जगह मैं मिसेज मिश्रा का पक्ष ले लेता अन्त में मैं अपने पर ही कुढ़ कर लौट आता।

"तुम क्यों करने लगे शिकायत," केलकर कहता, "तुम तो खुद उम्मीदवार हो।" वह ठहाके लगाता।

उस दिन कमरे में पहुँचा तो मिसेज मिश्रा सब्जी तल रही थी। इस वक्त! अभी तो कुल आठ ही बजे हैं! मुझे डर भी लगा और इच्छा हुई कि एक खूब भद्दा सा मजाक करूँ, जिससे इनका मिजाज तर हो जाए।

"आप मेरे लिए मि० दास से लड़ते क्यों रहते हैं?" तभी उन्होंने पूछा।

मैं चुप वैसे ही बैठा रहा।

"वह खुद ही बहुत हरामी है। खाँसता रहता है और बीवी को चौदहवाँ बच्चा होने वाला है। पूरे रावण के खानदान हैं ससुरे।"

"... .. .."

"आपसे बहुत नाराज लग रहा था। आज दिन में गालियाँ बक रहा था।"

"मुझे उस बात की उतनी चिन्ता नहीं मिसेज मिश्रा, जितनी कि..."

"जितनी कि..."

"मैं आपने कुछ कहना चाहता था।"

"आप मुझे दीदी कहिए। मैं उम्र में आपसे बड़ी हूँ। क्या उम्र होगी आपकी ?" वह मुस्करायीं।

इस वाक्य में कृत्रिमता की इतनी वीभत्स छाया थी कि लगा जैसे वे हिसाव वदवू नाक में समा गयी हो और मतली आने वाली हो। मन एक अजीव-सी नफ़रत और वितृष्णा से भर आया। मैं जानता था कि ऊपर वाली वात का इशारा क्या है। अतः वात पूरी करने की जगह मैं इधर-उधर कमरे में देखने लगा। एक ओर कोने में एक छोटा-सा लकड़ी का स्टैण्ड था, जिसके खानों में अनेक छोटे-वड़े डिब्बे रखे हुए थे। उस पर एक पुरानी साड़ी का मैला पर्दा पड़ा हुआ था। वहीं पर नीचे कुछ वर्तन, प्याले, तश्तरियाँ, रकावियाँ चमकाये हुए रखे थे। वग़ल में वत्तियों वाला स्टोव था। कमरे की छत इतनी नीची थी कि हाथ उठाने पर हमेशा चोट लगने का डर वना रहता था। गैलरी की ओक वाली खिड़की पर एक लाल वल्व लगा हुआ था। विस्तर के नाम पर एक वड़े से तख्त पर एक गद्दा विछा हुआ था। चादर के नीचे गद्दे के पुराने पड़ने के चिन्ह साफ प्रकट थे। उसकी रूई कहीं कम, कहीं ज़्यादा इकट्ठी हो चली थी और पूरा विस्तर एक ऊवड़-खावड़ सड़क की तरह दीखता था। एक कोने में एक वुढ़िया की झुर्रियोंदार चेहरे वाली तस्वीर टँगी थी।

"यह मेरी सास हैं," उन्होंने मुझे तस्वीर की ओर देखता पा कर कहा, "और ये मेरे पति।" उन्होंने दूसरे कोने में स्टूल पर रखी तस्वीर की ओर इशारा किया।

"ये आजकल कहाँ हैं ?"

"झरिया में।"

"तो आप भी साथ क्यों नहीं रहतीं ?"

"उनकी नौकरी वहुत छोटी है।"

"आप तो वहुत कमाती हैं। फिर उन्हें आप ही अपने साथ क्यों नहीं रखती ?"

इस 'कमाने' पर उन्होंने मुझे एक वार ग़ौर से देखा। वोलीं, "हाँ, वह तो मैं भी कहती हूँ लेकिन मर्दों का घमण्ड भी तो..."

"आप उन्हें ले तो आइए, मैं समझा दूँगा।" मैंने सोचा, चलो किसी तरह मामला तो सुलझे। "आपकी आमदनी तो इलेक्ट्रिफ़िकेशन से अच्छी-खासी

होगी ?" मैंने सोचा कि 'कमाने वाली' बात साफ़ कर दूँ।

"अच्छी-खासी क्या जी, मगर ..फिर भी पाँच-छः सौ तो महीने के पड़ ही जाते हैं।"

मुझे फिर लगा कि यह औरत लगातार झूठ बोले जा रही है। इसके पति-वति कोई नहीं है। और इलेक्ट्रिफ़िकेशन...हूँह . !

लेकिन एक दिन सचमुच मैंने खिड़की पर एक आदमी को बैठे देखा तो मन को बड़ी राहत महसूस हुई। तुरत विश्वास हो आया कि मिश्रा ही है। हू-ब-हू वही शक्ल जो तस्वीर में देखी थी। काला, सूजा हुआ, खुरदरा चेहरा, लाल-लाल आँखें, साही के काँटे जैसे खड़े-खड़े खिचड़ी बाल। वह एक गन्दी चादर लपेटे हुए खिड़की के पास एक कुर्सी खींचकर बैठा था। मुझे टैक्सी से उतरते देखकर उसके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट की छाया खिंच आयी। मैं समझ गया कि उसने मेरे बारे में सुन रखा होगा और पहचान जताना चाह रहा है।

उसके आने से हम एक तरह से आश्वस्त हो गए थे। वह घर से बहुत कम बाहर निकलता था। सुबह उठकर वह जलेबियाँ और समोसे लेने के लिए बस-गैरेज के पास वाली दूकान तक जाता। बाक़ी सारा दिन या तो वह सोता रहता या एक मैली-सी चादर ओढ़े खिड़की पर बैठा-बैठा बिना कुछ बोले सड़क पर आने-जाने वालों को देखा करता। लगता, वह कुछ नहीं देख रहा है। चादर में वह इस तरह सिकुड़ा रहता गोया उसे हमेशा जाड़ा लग रहा हो। सुबह-सुबह उठने के बाद उसका मुँह बुरी तरह सूजा हुआ रहता और उसे देखकर बहुत दह-शत होती। इस दहशत को धुला देने का काम उसकी आवाज़ करती। जब भी वह बोलता, उसका पूरा व्यक्तित्व बदल जाता और उसके चेहरे का भुतहा खूँखारपन जाने कहाँ गायब हो जाता। लेकिन तभी एक दूसरी बात मन पर छाने लगती। ऐसा लगता कि इस आदमी को सारी रात चप्पलों से पीटा गया है या यह लगातार रात भर मतली करता रहा है और उस सम्बन्ध में वह कुछ बताना चाह रहा है।...शाम को वह कमरे का ताला बन्द करता और एक दरी या चटाई लेकर ऊपर छत पर जा-बैठता। कभी लेटता, कभी टहलता और कभी दोनों बाँहें

ऊपर उठा कर सारा बदन तोड़ता या चुपचाप सड़क की ओर ताकता रहता। सड़क पर गुज़रते हुए मुहल्ले के लौंडे उसे देखकर मुस्कराते और वहीं से आवाज़ लगाते, "मिश्रा जी, नोमोश्कार ! दीदी कोथाय ?..." मिश्रा हकलाता हुआ कभी-कभी कोई जवाब देता, अन्यथा चुपचाप मुस्करा देता। लौंडे नीचे खूब जोर का ठहाका लगाते और 'वाइ वाइ' करते हुए आगे बढ़ जाते।

छत से उतरते हुए कभी-कभार वह कमरे के सामने ठिठकता और दरवाज़े की संध से झांककर देखता। "आ जाइए।" मैं कहता।

"नहीं, आप काम कर रहे हैं। डिस्टर्ब होगा।" वह बड़े ही कृतज्ञ भाव से कहता। फिर आग्रह करने पर आकर बैठ जाता। मैं अपना चार्ट अलग रखकर कुर्सी उसकी ओर घुमा लेता।

"कहिए, अब आपकी तबीयत तो ठीक है ?"

"हाँ-हाँ, वो रानी बेकार परेशान रहती है। मुझे हुआ ही क्या था ?" कहते हुए वह खिड़की से बाहर देखने लगता। फिर जोर-ज़ोर से हँसने लगता। मैं कभी साथ देता, कभी चुप ही रहता। वह भी एकाएक चुप हो जाता। कोई बात करने को नहीं रहती। वह किधर भी न देखकर कुर्सी के हत्थे पर रखे अपने हाथों को देखता रहता या उँगलियाँ चटकाता।

"आपको अकेले अच्छा लगता है ?" मैं पूछता।

"क्यों ?"

"ऊपर छत पर बैठे रहते हैं। नीचे दोस्तों के साथ क्यों नहीं बैठते ?"

उसके चेहरे पर एक परत और तारकोल पुत जाता। एक चिपचिपापन तैरने लगता। वह मेरी ओर एक ही साथ भेदक और अपराधी निगाहों से देखता। फिर कहता, "बिज़नेस की बातों में मेरा क्या काम ? वैसे भी शाम अच्छी होती है। नहीं होती ?"

"चाय बनाएँ ?" मैं बात बदल देता।

"नहीं-नहीं, मैं चलूँ।" उसके चेहरे पर एक दीनता और चिड़चिड़ेपन का भाव छा जाता। उसके सिर के बाल खड़े हो जाते और वह हाथ जोड़ता हुआ उठ खड़ा होता।

फिर महीनों मिश्रा छत पर नहीं दिखायी देता। सुबह उठकर वह पाव रोटी और जलेबियाँ लेने बदस्तूर जाता। शाम को मैं कभी-कभार ऊपर जाने को होता,

तो वह अपने कमरे से ही आवाज़ लगाता, "माथुर साहब, आज हम लोग आम और पाव रोटी खा रहे हैं। आप भी आ जाइए न!" मैं हाथ जोड़ता हुआ ऊपर चला जाता। फिर किसी दिन वह रेडियो सुनता रहता। ऐसा स्टेशन लगाता, जिसकी भाषा समझ में नहीं आती। मैं उधर से गुज़रता तो मुस्कराता हुआ कहता, "आज हमारी एक जगह दावत थी। भाई साहब, यह कौन सी बोली है?" मिसेज़ मिश्रा चुपचाप बैठी मुस्कराती रहती। मैं पूछता, "नई पिक्चरें कब से लग रही है?" तो बड़े ही निराश भाव से कहती, "वही तो मैं भी इन्तज़ार कर रही हूँ। आजकल बिज़नेस ही ठप है। भाई साहब, आपको बाज़ार से चीज़ें मंगानी हों तो मुझे कह देना।" फिर कभी-कभी सुबह ही मिश्रा खुद ऊपर पूछने आता, "भाई साहब, रानी पूछ रही है, आपको कोई चीज़ बाज़ार से मगानी तो नहीं?"

"मैं बहुत अच्छा सामान खरीदती हूँ।" मिसेज़ मिश्रा तीन-चार सीढ़ियाँ ऊपर आकर आवाज़ लगाती।

"हम लोग एक दोस्त के यहाँ बड़ा-बाज़ार जा रहे हैं। उसने खाने पर बुलाया है। उधर से लेते आएँगे। आपके पास मच्छरदानी भी तो नहीं है।" मिश्रा कहता।

ऐसे में मैं सामान की एक लिस्ट बनाकर दे देता। शाम को मुझे पूरे हिसाब की चिट के साथ सामान मिल जाता। इतने का कपड़ा, इतने की मसहरी, इतने के सूखे मेवे और तीन रुपये पचास नये पैसे टैक्सी-किराया।

उसके थोड़ी देर बाद नीचे सब्ज़ी छौंकने की सुगन्ध आती और मिश्रा ऊपर आकर मुझसे अत्यन्त विनीत भाव से कहता, "भाई साहब, रानी कह रही है, आज हमारे यहाँ आपकी दावत है।"

रात को कभी-कभी मि० दास की गाली-गलौज सुन पड़ती, "हमारा भाड़ा दो, नहीं बाड़ी छोड़ो। दो मास हो गया। हम कोई सेठ है। हमारा भी देना-पेना है।"

लेकिन यह सब बहुत दिनों तक नहीं चल पाया। एक दिन सन्ध्या के धुंधलके में मैंने देखा, मिश्रा छत पर खड़ा है। हल्की-हल्की भौंसी पड़ रही है और वह चादर को खूब कसकर लपेटे हुए है। मैं सड़क से ही उसे देखकर मुस्कराया।

पूछा, "यहां क्यों भीग रहे हो भाई ?" वह बिना कोई जवाब दिये जीने पर उतर कर बैठ गया। गैलरी में घुसते ही मालूम हुआ उसके कमरे से किसी आदमी के खूब जोर-जोर से हँसने की आवाज़ आ रही है। उसमें मिसेज़ मिश्रा की हँसी भी शामिल थी। मैंने अपने कमरे का ताला खोला और फिर ऊपर चला गया। मिश्रा दो-तीन जीने नीचे उतर कर उँकडूं बैठा था। मुझे देखते ही मुस्कराया बोला, "साली, कैसी झींसी पड़ रही है। बिल्कुल कोहरे के मानिन्द। खुलकर बारिश ही हो जाय तो यह उमस तो कम हो। क्यों भाई साहब !"

"तुम मेरे कमरे में आकर बैठो।"

"आप चलिये। यहां हवा बहुत अच्छी है। मुझे कोई तकलीफ़ नहीं है। मैं तो अक्सर यहां बैठा करता हूं।"

दूसरे दिन सुबह मैंने देखा—आंगन में मि० दास और रंगनाथन की बीवी लड़ रही हैं। रंगनाथ की बीवी का कहना था कि वह बाथरूम और लैट्रिन मिसेज़ मिश्रा को इस्तेमाल नहीं करने देगी। या तो मकान-मालिक उनके लिए दूसरा बाथरूम-लैट्रिन बनवा दे या अपना वाला दे दे। उसने बाथरूम-लैट्रिन के दरवाज़े में ताला लगा दिया था। मिसेज मिश्रा दो बार आयीं और ताला बन्द देखकर लौट गयीं। मिश्रा कभी अत्यन्त दीन भाव से मेरा मुंह ताकता या आंखें बन्द करके चुपचाप पड़ा रहता। इस घटना पर बड़ी बहस हुई। मि० दास अपने कमरे में हाँफते हुए गालियाँ बक रहे थे और सिर पीट रहे थे। फिर कोई फ़ैसला होने के पहले ही सभी मर्द ऑफ़िस चले गये। मिसेज़ मिश्रा पहले ही चली गयी थीं और जब मैं ऑफ़िस जाने के लिए निकला तो देखा मिश्रा खिड़की पर चादर ओढ़े उसी शाश्वत मुद्रा में बैठा है।...

शाम को एक और क़िस्सा सुनने को मिला। पता लगा, केलकर ने अपनी बीवी को खूब पीटा है। उसने अपना बाथरूम इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी थी। इस पर बीवी ने एतराज़ किया तो उसने पीट दिया। शाम को जब मैं ऊपर जा रहा था, तो दो-एक लोगों के साथ वह भी मिसेज़ मिश्रा के कमरे में बैठा था। मुझे देखते ही उसने नज़र बचा ली थी।

धीरे-धीरे केलकर की यह बैठकी नियमित हो गई। वह अपनी बीवी को घर छोड़ आया। मुझसे उसने बोलना छोड़ दिया। कभी अगर लेक पर या गैरिया-हाट या चौरंगी में देखा-देखी हो जाती तो वह नज़रें बचाकर निकल जाता। ऑफ़िस

के वक्त पर वह बहुधा नौ नम्बर की वह बस छोड़ देता जिसमें मैं चढ़ता। फिर हम दोनों में एक मूक समझौता हो गया और हम एकदम एक-दूसरे के लिए अन-पहचाने हो गये।

शाम को घर लौटते ही एक अजीब-सा तनाव सारे तन-मन पर छा जाता। बल्कि ऑफ़िस में चलते ही मिश्रा की बात याद करके मेरा मन भर जाता। मैं इधर-उधर वक्त काटते-काटते थक जाता। कभी लेक पर बैठा रहता, कभी लिलो-पुल में या कभी मुकाम्बो में बैठा अकेले ही पिया करता। लौट कर बहुधा मैं चाहता कि छत की ओर मेरी नजर न जाए। नजर बरबस उठ जाती और सहसा मेरे हाथ-पाँव जड़ हो जाते। ऊपर से नीचे तक मैं सिहर जाता। मिश्रा छत पर वही गन्दी चादर ओढ़े बैठा रहता या लेटकर कुहनियों में कानों को दबा लेता। कभी-कभी तेज बारिश होती तो वह उसी तरह जीने में आ बैठता और खासता रहता। जाड़े के दिनों में एक कीचट लिहाफ ओढ़े वह सामने के मकानों के पार प्रिन्स-अनवर-शाह-रोड की बत्तियों की क़तार अपलक निहारा करता या 'बंगाल-रोइंग-क्लब' और लिलोपुल के बीच में कारों का गुजरना देखा करता। कभी-कभी वह इन सबसे ऊबकर मुझे बुलाता और अपने पास बैठने को कहता। नीचे की आवाजों के कारण मेरे लिए सोना काम करना—दोनों ही मुश्किल होते। अतः मैं आकर उसके पास बैठ जाता। वह मेरा ध्यान पालतू कोयलों की आवाज की ओर खींचता और फिर चुप हो जाता, जैसे सुनने के लिए कह रहा हो। सारे मुहल्ले में कई-कई पालतू कोयलें होड़ लगाकर चीखतीं। फिर चुप हो जातीं और फिर चीखतीं। उनका यह क्रम अक्सर सारी रात चला करता और भोर में नींद खुलने पर उनकी मोहक आवाज पूरे मन पर छा जाती।.. मिश्रा लेटे-लेटे मेरी ओर देखता और किसी बात के शुरू होने पर इन्तजार करता। तभी ठहाकों की छतफाड़ आवाजें ऊपर आतीं। वह हड़बड़ा कर बैठ जाता और मुझे जैसे उस आवाज से दूर ले जाने की गरज में कहता, "दुग्गल जी हैं। 'रेणुका' सिनेमा के मैनेजर। बड़े जोर से हँसते हैं।"

फिर वही चुप्पी। और थोड़ी देर के बाद मिश्रा का आत्मालाप शुरू हो जाता मैं कभी सुनता और कभी बिलकुल तटस्थ या नशे में होने पर नींद में अलसा जाता। ऐसे ही में उसने बताया था। उसके सौतेले भाइयों ने किस तरह उसे जायदाद से बेदखल कर दिया। फिर वह झरिया में एक खान-मजदूर था। "बापरे...

मुझे लगता है मेरे जिस्म की रग-रग में कोयला भरा पड़ा है। हां, वहीं बीमार पड़ा। रानी बहुत आत्माभिमानिनी है। चारों ओर कैसी-कैसी बदबू फैली है? आपको नहीं आती मि० माथुर... ? मुझे तो हमेशा मतली आती रहती है। कैसी सड़ांध है। मुझे कहीं जैसे साफ हवा नहीं मिलती। कोयला, पैट्रोल, कीचड़ पसीना ...ओफ...ईश्वर... ! क्या तूने हमें इस तरह देखा है?" फिर वह ज़ोर से ठहाके लगाता। एकाएक नीचे फिर आवाजों का वड़ाका होता तो मिश्रा को होश आता

"आपको पंजे लड़ाने का शौक़ है?" वह पूछता।

"है तो।" मैं इसलिए कहता कि वह बातचीत का सिलसिला किसी तरह जारी रख सके।

"तो आइए। हो जाए।"

फिर वह मेरा पंजा अपने में लेकर आज़माता और दो-एक मिनट बाद पस्त पड़कर कहता, "अब ताक़त नहीं रही उतनी। उमर का भी तो फ़र्क़ आ जाता है।"

"........"

"अच्छा, मेरा हाथ पकड़ कर मुझे खड़ा कर दीजिए तो।" वह अपना हाथ बढ़ा देता।

मैं उसका हाथ पकड़ कर खड़ा कर देता।

"पकड़े रहिएगा।" वह कहता। उसका चेहरा किसी भयानक पीड़ा से चिप-चिपा उठता। माथे की नसें तन जातीं, उसका सारा बदन चन्द मिनटों के लिए धनुप-टंकार के रोगी की तरह अकड़ जाता।

"मुझे तो मालूम है...लेकिन...ओफ़ ईश्वर," बस आँखें खोल कर मुझे देखता।

"क्या मालूम है?"

"कुछ नहीं जी, वह बात ही बेकार है। अब ठीक हूँ। अभी टहलूंगा। आप जाइए, आराम कीजिए।"

नीचे दूसरा ही डायलॉग सुन पड़ता—"मैं तुम्हें बहुत प्यार करता हूँ।" आवाज खिड़की से सरक कर मेरी खिड़की से अन्दर आ जाती। लड़के को इस बात से सख्त एतराज़ था कि उसके यहाँ ये तरह-तरह के लोग क्यों आते हैं। वह उससे शादी कर लेगा और यहाँ से ले चलेगा। उसकी माँ के पास बहुत पैसा है और वह चोरी कर सकता है। मिसेज़ मिश्रा इस पर खूब ज़ोर से खिलखिलातीं, तो

वह और भी लाड़ जताता... थोड़ी देर के बाद लड़का सिर नीचा किए सड़क पर जाता दीखता। उसके चिकने, केशविहीन गाल तमतमाये रहते और चाल तेज़ रहती। इधर मिसेज़ मिश्रा के कमरे में मौत का सन्नाटा छा जाता कि एकाएक कोई दरवाज़े की कुण्डी खटखटाता। फिर भारी बूटों के साथ एक भारी आवाज़ कमरे में प्रवेश करती और कमरे की लाल बत्ती जल उठती।

कभी बारिश तेज़ हो जाती, कभी सफ़ेद कोहरे में छत पर एक धब्बा नज़र आता। बस-गैरेज की तरफ़ आते हुए डबल-डेकर राक्षस लेवेल क्रॉसिंग से लगा-यत लेक के पार तक अँधेरे में गुनगुनाते हुए खड़े रहते। थोड़ी देर बाद भारी बूटों वाली आवाज़ सड़क पर आ जाती, "टा-टा, मिसराजी, टा... टा माई डियर मिसरा..." आवाज़ लड़खड़ाती हुई सड़क पर चलती जाती। डबल-डेकर राक्षस गैरेज में साँस छोड़ते—एक के बाद एक। सन्नाटा गहरा हो जाता और समुद्री हवा तेज़ झकोरों में चलने लगती।

ऊपर मिश्रा के खाँसने की आवाज़ सुन पड़ती। मुझे अपने कमरे की बत्ती जलाने में डर लगता। पसीने में लथपथ मैं वैसे ही चुपचाप पड़ा रहता। नीचे चन्द मिनटों बाद बाल्टियाँ खड़खड़ाने की आवाज़ आती और साथ ही दरवाज़ा खुलने की। फिर खिड़कियाँ खोली जातीं। लाल रोशनी की जगह हल्का दूधिया प्रकाश कमरे से बाहर गुड़हल की गाछ को भी आलोकित कर देता। थोड़ी देर बाद कमरा धुलने की आवाज़ आती। फिर वही नहाने की। उसके बाद अगरबत्तियों की खुशबू चारों ओर फैल जाती और एक भीनी एपनीली आवाज़ सुनायी पड़ती—

"ओम् जय जगदीश हरे,
प्रभु जय जगदीश हरे।
भक्त जनों के सब दुख,
पल में दूर करे...
प्रभु जय जगदीश हरे..."

मैं जानता होता कि इस नाटक का कभी न आने वाला अन्त अभी बाकी है [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]ान पर सुनाइ पड़ता। ऐसा लगता कि सीढ़ियों पर यह आवाज़ कभी ख़त्म नहीं होगी और मैं हमेशा उसके चुकने का इन्तज़ार करता रहूँगा।... एक, दो, तीन,

चार .. आठ... बीस, ..उनतीस .. तीस . इक्तीस... ।

"चलो उठो ।"

" ...."

"ए ! सो गये क्या ?"

"नहीं भाई !" कोई झुंझलाहट नहीं । सिर, बाहों में । आँखें चेहरे के शून्य में । आत्मा एक शैतान की आँत में ।

"खाना नहीं है ?" आवाज़ में इतना मधु ! इतनी गहन आत्मीयता । मन के भीतर इतना क्षुब्ध विस्मरण ।

"मुझे भूख नहीं है ।"

"क्यों नहीं है ?" आखों में डबडबाहट । सड़क पर तेज़ रोशनी की चकाचौंध में किसी का ठहाके लगाना ।

"यों ही ।"

"तो मैं भी नहीं खाऊँगी ।"

"हम लोग किस चीज़ का इन्तज़ार कर रहे हैं रानी ।" अंधेरे में एक भयावह मुस्कान ।

"मुझे नहीं मालूम । उठो ।" डबडबायी आँखों में एक झरना ।

"सच ।" केवल देखना... देखना, देखना—देखते जाना ।

"डाक्टर के यहाँ गये थे ?"

"रानी !" केवल एक शब्द । कोई जवाब नहीं ।

"गये थे ?"

"हाँ ।"

"उसने क्या कहा ?"

"मुझे कुछ नहीं हुआ ।" चारों ओर शून्य के फैलाव में अँधेरे का हाहाकार ।

फिर सीढ़ियों पर दो जोड़े क़दमों के उतरने की आवाज़ । फिर सन्नाटा और उस सन्नाटे में सब्ज़ी छौंकने की ध्वनि... । रात में जैसे कोई लगातार मतली कर रहा हो — ऐसे सपने । सुबह उठने पर चादर ओढ़े एक काली मिट्टी की प्रतिमा । मुंह सूजा हुआ, होंठ बन्द, आँखें अवमुंदी और उसके चारों ओर उजली वर्फ़-सी धूप ।

सुबह मैं देर तक सोया रहा। नीद खुली तो तुरत मिश्रा का ध्यान हो आया। खिड़की के नीचे सडक पर बापू कुछ लडको के साथ खडा था। मुझे देखता पाकर वे सब आगे बढ गए। मि० दास खाँसते हुए दो-तीन बार इधर-उधर आये-गये, लेकिन कुछ बोले नही। केलकर वाले हिस्से मे कोई दूसरा किरायेदार आ गया था। तभी रगनाथन आॉफिस जाने के लिए निकला और मेरी खिडकी खुली देखकर ऊपर आ गया। फिर उसने जो कुछ बताया, मैं स्तब्ध रह गया, मुझे एक एक करके मिश्रा की बातें, उसके आत्मालाप, उसकी चुप्पी, उसके ठहाके और धनुपटकार के रोगी की तरह बदन का अकडना— सब याद आने लगे। जैसे शब्दों के मौन के भीतर से, सूजे हुए चेहरे से, खडे-खडे बालो से एक-एक तिलिस्म का दरवाज़ा खुलता और भयावने चेहरे वाले अय्यार ठहाके लगाते। उसका वह वाक्य! सहसा मेरे सामने एक पूरी नगी तसवीर आ बैठी, जिसकी सडाँध और कोढ़ से मुझे खुद मतली आने लगी। मुझे मिश्रा का वह वाक्य याद आया—"मुझे मालूम तो है लेकिन "

"क्या मालूम है?"

"कुछ नही जो, वो बात ही बेकार है। सब ठीक हो जाएगा।"

रगनाथ ने बताया, मिश्रा को फेफडे का कैन्सर था। जब भी मिसेज मिश्रा उसे डॉक्टर के यहाँ जाने को कहती, वह नौ नम्बर की बस पकड कर चौरगी तक हो आता और घूम-घाम कर लौट आता। पूछने पर कह देता, उसे कुछ नही हुआ है। उसे मालूम था लेकिन उसने कभी किसी को बताया नहीं। मेरे छुट्टी जाने के कुछ ही दिन बाद मि० दास से मिसेज मिश्रा का खूब कस कर झगड़ा हुआ। सामने वाले सबइन्सपेक्टर की बीवी ने मि० दास से फरियाद की कि मिसेज मिश्रा ने उसके पति पर जादू कर दिया है और वह उन्हें, उस चुड़ैल के चुंगल से किसी तरह छुड़ायें। इस बात को लेकर वहा हगामा मचा और ढेर सारे राह चलते लोग सडक पर इकट्ठे हो गए। मि० दास ने मिसेज मिश्रा को खूब सुनायी—"शाली हमरा पाइप का जल खाकर हाथी हो गया। वह घर से भागा हुआ औउरत है। . हम कुछ नही . माँगता बाबा! तुम हमारा घर से अभी निकल जाओ। इसका कोई नही। एक ठो आवारा, बदमाश, को साथ में रखा है। वह इसका व्यभिचार का कमाई खाता है . थू:! वह इसका कोई नही। हिआँ सब लोग जानता है। वह शाला कूकुर है कूकुर ...।"

इस पर मिसेज़ मिश्रा रोती हुई ऊपर छत पर भागीं। मिश्रा रोज़ की तरह छत पर बैठा हुआ था—जैसे उसके सामने यह सब कुछ घटित नहीं हो रहा हो। मिसेज़ मिश्रा ऊपर गयीं और मिश्रा के गालों पर तड़ातड़ कई तमाचे जड़ दिये। फिर गुस्से में वह उसका मुँह नोचने लगीं—"कायर, निकम्मे, भड़वे.. यहीं सब मुझे गाली दे रहे हैं। भगाई हुई औरत कह रहे हैं। वेश्या बना रहे हैं। मेरी सारी गत बन गई और तुम बैठे-बैठे सुन रहे हो—बेहया, दोग़ले... ! तुम मर क्यों नहीं जाते ? तुम यहाँ बैठे कैसे हो। लानत है ऐसे मर्द पर .. !"

"मेरा हाथ पकड़ कर उठाना तो ज़रा।" मिश्रा ने अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाया।

मिसेज़ मिश्रा ने उसका हाथ झिटक दिया और फ़र्श पर बैठकर दहाड़ें मार मार कर रोने लगीं।

मिश्रा कोशिश करके उठा और कुछ सेकण्डों तक अकड़ा हुआ खड़ा रहा। फिर उसे एकाएक ग़श आ गया और वह धड़ाम से चारों खाने चित्त वहीं छत पर गिर पड़ा। पल भर बाद मिसेज़ मिश्रा की जैसे नींद-सी खुली। उन्होंने उठाया और रंगनाथन को आवाज़ दी। दोनों मिलकर उसे नीचे कमरे में ले आये। दो दिन बाद डाक्टरों ने बताया, उसे फेफड़े का कैन्सर है और बचना मुश्किल है। मिसेज़ मिश्रा ने कोशिश-पैरवी करके चितरंजन कैन्सर अस्पताल में उसके लिए एक 'बेड' का तुरत इन्तज़ाम करवा लिया। उसके तीन-चार दिन तक मिश्रा ठीक था। रंगनाथन एक दिन उसे देखने गया, तो वह वार्ड के दो-तीन और मरीज़ों के साथ ताश खेल रहा था और हँस रहा था।

"कैसी तबियत है ?" रंगनाथन ने पूछा।

इस पर मिश्रा ठहाके लगाकर हँसा, "ठीक है। सब ठीक हो जाएगा। वो रानी बेकार परेशान रहती है।"

उसके दूसरे दिन सुबह उसे खून दिया गया। थोड़ी देर बाद वह बेहोश हो गया और कुल अड़तीस मिनटों के अन्दर ही उसका प्राणान्त हो गया। उसके बदन में जगह-जगह नसें फट गयी थीं और कई जगह चमड़ी को फाड़ कर खून छलछला आया था।

"मिसेज़ मिश्रा अब कहाँ है ?" मैंने पूछा।

"वह तो उसी दिन यह मकान छोड़ कर चली गयी। कहीं महाराष्ट्र-निवास

के पीछे हाजरा रोड पर आजकल रहती है।"

"तुम गये थे, उसकी मौत के बाद ?"

"नहीं, बेलकर बता रहा था।"

"वह कहां रह रहा है ?"

"ठीक पता नहीं। शायद भवानीपुर में कहीं।"

रात के दस बज रहे थे। हल्की-हल्की झींसी पड़ रही थी। चौरंगी से घूम-कर लौटते हुए मैंने हाजरा पर ट्राम छोड़ दी। कई दिनों से मन में था कि कुछ भी हो, चल के एक बार समवेदना तो प्रकट कर ही आना चाहिए। वैसे मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं किस तरह कहूँगा या क्या कहूँगा। दिन में वालों-हॉउस जाकर मैंने बेलकर का पता किया तो मालूम हुआ वह दो महीने की छुट्टी पर घर गया हुआ है। पता नहीं क्यों, मुझे अकेले जाने में एक विचित्र प्रकार का भय लग रहा था। इसके अलावा स्थिति भी तो मेरे सामने साफ नहीं थी। न मुझे घर का ही ठीक पता मालूम था। शाम को डलहौजी में ट्राम-स्टैण्ड पर शान्ति बाबू मिल गए। मिसेज मिश्रा ने कई बार अपने गहरे दोस्त के रूप में इनका जिक्र किया था। शान्ति बाबू उर्दू के शायर थे और अपने को 'जिगर' का शागिर्द मानते थे। मैंने सोचा, उन्हीं से पूछ लूँ, शायद कुछ पता चल जाए।

"मिसेज मिश्रा? . कौन थो . " शान्ति बाबू हँसे, मुझे उस खूसट कुतिया में अब कोई इन्टरेस्ट नहीं। जिसको रोज नई गाय दुहने को मिले उसे.. क्यों साहब ?" शान्ति बाबू ने बगल वाले अजनबी से अपनी बात की ताईद करानी चाही। लेकिन ताईद का इन्तजार किये बिना हो-हो करके हँसने लगे।

"मैं इसलिए पूछ रहा हूँ कि क्या आपको मालूम नहीं कि उनके पति की मृत्यु हो गई है ?" मैंने कहा।

"पति !" . शान्ति बाबू फिर अपना बड़ा-सा पेट पकड़ कर हो-हो करने लगे। जब भी मैं कुछ कहने के लिए मुंह खोलता, वह और जोर से हँसने लगते। तभी ट्राम आ गयी।

"यार, तुम भी खूब मसखरे हो," वह ट्राम पर चढ़ गए, "अच्छा डियर !

टा टा...फिर मिलेंगे।" और वह फिर मेरे चेहरे की ओर उँगली से इशारा करते हुए हो-हो करके हँसने लगे जैसे उन्होंने असली खूनी को पकड़ लिया हो। कुछ सेकण्डों तक उनका चेहरा दिखता रहा, फिर ट्राम ने 'कर्व ले लिया।

गलियों में चक्कर लगाते काफी वक़्त हो चुका था। कई जगह सहमते-सहमते पता भी करना चाहा, लेकिन किसी ने नहीं बताया। मेरे कपड़े सिमसिमा गए थे। अन्दर से बदन चिपचिपा रहा था और ऊपर से हल्की-सी झींसी भिगो रही थी। टाँगें दुख रही थीं और इच्छा हो रही थी, थोड़ी देर बैठकर सुस्ता लूं। दूर हाजरा रोड पर बसों की गों-गों सुन पड़ती थी। कोई बंगाली दम्पति बग़ल से घूरते हुए निकल जाते। फिर मेरे मन में आया कि लौट चलूं। सामने एक बड़ा-सा मैदान था, जिसमें लकड़ी का टाल था। टाल के बग़ल से एक पतली कच्ची गली जाती थी। मैंने सोचा शायद इधर से निकल जाने पर सड़क जल्दी मिल जाये। गली अँधेरी और सुनसान थी। इधर से कोई आता-जाता दीख नहीं रहा था। टाल से वर्षा-जल छन-छन कर गली में इकट्ठा हो गया था। मैंने जूते निकाल लिए और पैण्ट की मोहरी चढ़ा ली। तभी एक भारी-भरकम डील-डौल का आदमी गली के उस छोर पर प्रकट हुआ और पानी हेलकर इधर ही आता दिखायी दिया। गली इतनी पतली थी कि मैं उसके इधर आने का इन्तज़ार करने लगा।

इस पार आकर उसने घूर कर मुझे देखा। "कहाँ जायेगा मैन ?" उसके मुँह से ह्विस्की की गन्ध आ रही थी।

"इधर कोई मिसेज़ मिश्रा रहती हैं ?" मैंने निराशा भरे स्वर में पूछा।

"ओह !" वह मेरे और नजदीक आ गया और घूर-घूर कर देखने लगा। "वाह पट्ठे," उसने कहा और वहीं बैठकर जूते पहनने लगा,"हाँ-हाँ उस कोठरी में मिसेज़ मिश्रा रहती है। मिसेज़ मिश्रा नहीं बुलबुल कहो यार...बुलबुल ..।"

मैंने जूते उठाये और जाने को तैयार हो गया।"

"ए मैन !"

मैं घूमकर खड़ा हो गया।

"तुम्हें इन्तज़ार करना पड़ेगा।" उसने मेरे कंधों पर अपनी बालों से भरी हुई बाँह टिका दी, "आइ थिंक यू अण्डरस्टैण्ड चैप.. आफ़्टर आल दिस गुरुचरन सिंह, वेट टू हण्ड्रेड फिफ़्टी पाउण्ड्स, इज़ कमिंग आउट ऑफ़ द डेन।" उसने अपनी छाती फुलाई और गली के मोड़ पर जाकर ओझल हो गया।

कमरे का दरवाज़ा शायद गली की ओर ही था। अन्दर हल्की रोशनी झलक रही थी। कुछ पलों तक मैं संज्ञाहीन-सा जूते हाथ में लिये खड़ा रहा। सहसा मुझे एक अनाम भय ने जकड़ लिया। लगा जैसे कोई छुरी से कच्चे आम की तरह मेरी चमड़ी छील रहा है। बारिश तेज हो चली थी। मैंने जूते पहने, देव्ट की मोहरी ठीक की और उल्टे पांव लौट पड़ा। एक चार-मंज़िले मकान से चीख़ सुनायी दी और गली में ऊपर से झनझनाता हुआ टिन का एक टुकड़ा किसी ने फेंका। सड़क पर आने पर मालूम हुआ, अन्तिम बस जा चुकी है। ट्राम-लाइनों पर भौंकते हुए कुत्ते इधर-उधर दौड़ रहे थे और कई-कई पालतू कोयलों में प्रतिद्वन्द्विता लगी हुई थी। यतीन्द्रमोहन पार्क में एक मार्बल स्टेच्यू की तरह खड़ा भीग रहा था।

चलते हुए मुझे याद आया कि उस गुरुचरन सिंह के निकल जाने के बाद कमरे में बाल्टियाँ खड़खड़ाने की आवाज़ आएगी। फिर सारा कमरा धोया जाएगा, फिर स्नान। फिर अगरबत्तियाँ जलाई जाएंगी और फिर एक भीनी-सी विरस, कांपती हुई आवाज़ गाएगी—

"ओम् जय जगदीश हरे . प्रभु"

उसके बाद चार-पांच आलू काटकर वह तेल-मिर्च में छौंक लगाएगी। थोड़ा-सा आटा निकाल कर गूंधेगी और धीरे-धीरे ऊंघती हुई रोटियाँ बनायेगी...।

प्रतिशोध

जैसे उन्हें मार्फिया का इंजेक्शन दिया हो, और दिनों की तरह ही वे पीनक में डूबे हुए-से बैठे थे। शक्ल से तो नहीं लेकिन अपनी मुद्राओं से वे सभी अफ़ीमची नज़र आते थे। पर्दा उठाकर ज्यों ही कोई अन्दर दाख़िल होता— वे क्षण भर को चश्मे के अन्दर से झाँकते और फिर आँखें फाइलों में गड़ा लेते। जैसे उनमें भयानक हत्याकाण्डों और निरीह मौतों की खबरें लिखी हुई थीं, जिनकी वे मातमपुर्सी कर रहे थे।... और दिनों की तरह ही अन्दर घुसने के पहले वह दरवाज़े पर एक मिनट को रुका था और स्टूल पर बैठे चपरासी की ओर देखकर दीनता-पूर्वक मुस्कराया था। चपरासी ने खैनी होंठों में दबाते हुए उसके प्रत्युत्तर में खीसें निपोर दीं तो वह पर्दा उठाकर अन्दर दाख़िल हो गया। अन्दर जाते ही सहसा यह एहसास उसे जकड़ लेता कि वे सभी अपनी जेबों में पिस्तौल छिपाये बैठे हैं और तुरत उस पर गोली दाग़ने वाले हैं। वह चौथी बार आया था। जिस तरह से लगातार वे टालते आ रहे थे, उससे उसके भीतर यह आतंक धीरे-धीरे आकार लेता जा रहा था और घर से चलते ही वह यहाँ आने से कतराने लगता...लेकिन कोई चारा नहीं था। "मुझे लगता है, तुम वहाँ जाते ही नहीं। बीच ही से लौट आते हो," पत्नी सन्देह प्रकट करती। वह बार-बार अपनी सफ़ाई देता और सफ़ाई देते-देते उसे ऐसा लगता वे सब उसकी बातें सुन रहे हैं और कह रहे हैं—'अच्छा बच्चू.. देखेंगे।'

वे चारों ओर फैले हुए हैं। वे दिखायी न भी दें, वे सारी खबरें रखते हैं। वे कभी गोलियाँ नहीं चलाते। वे कभी असभ्यता से बातें तक नहीं करते। वे ज़ोर से नहीं बोलते। चुप रहते हैं, मुस्कराते हैं। लेकिन उनकी नज़रें बड़ी तेज़ हैं। उनके वार बहुत पक्के हैं। हत्याएँ हो जाती हैं। पता नहीं कहाँ, कितने बड़े गटर-पाइप हैं, तहखाने हैं, अँधेरी सुरंगें हैं, जहाँ मरे हुए लोग चुपचाप दफ़ना दिये जाते हैं। लेकिन वही लोग—उन्हीं के कंकाल—फिर सड़कों पर चलते

हुए दिखाई देते हैं । हजारों स्त्री-पुरुष—कालीघाट से लेकर श्याम बाजार तक बड़तल्ला से मछुआ बाजार, इलियट स्ट्रीट, टालीगंज...भवानीपुर की सर्द गलियों में—हर जगह। उन्हें देखकर डर लगता है। ये लोग नहीं हैं—केवल एक सदेह मौन चीत्कार है . गूंजती हुई। यह चीत्कार पूरे देश में फैली है...वह बीच ही में अपनी विचारधारा को तोड़ देता।... वह डरता है । उसकी टांगें बेवजह काँपती हैं। वह बेमतलब ..। कई बार असफल लौट आने के बाद, नियत तारीख पर घर से निकल कर सड़क पर आते ही उसे इसी तरह के खयाल जकड़ लेते और वह काफी रास्ता पैदल तय कर लेता। इस बात से उसे हल्की-सी खुशी होती लेकिन वह भय उसके आसपास मँडराने लगता, जब वह पाता कि वह उस इमारत के नीचे खड़ा है।

पहली बार अन्दर जाकर वह निहायत बेतकल्लुफी से सामने की कुर्सी पर बैठ गया था। उसे ऐसी जगहों में जाने का अभ्यास पहले नहीं था। ऐसे लोगों से उसका साबका नहीं पड़ा था। सौभाग्यवश वह अपनी सीमित दुनिया में बड़ा खुशहाल था और उसे अपने मन के अनुरूप ही हर जगह अच्छे मददगार और कर्तव्यपरायण लोग दिखायी देते थे। कम-अज-कम ऐसी उम्मीदें तो वह रखता ही था। बहरहाल, कुछ दिनों से ही यह नई परिस्थिति खड़ी हो गयी थी और वह समझता था कि सब कुछ बड़ी सहजता से ठीक हो जायगा। इसलिए वह एक हद तक निश्चिन्त और आलस्यग्रस्त था। उसके चेहरे पर कभी नाउम्मीदी की झलक नहीं टिकती थी। किन्हीं भी स्थितियों में वह अपने को छोटा करने का आदी नहीं था। लेकिन इधर धीरे-धीरे उसकी पीठ में नाखून चुभने लगे थे। जब भी वह दरवाज़े के अन्दर दाखिल होता, दैन्य उसके चेहरे से चिपक जाता। वह चाहता न था कि ऐसा हो, लेकिन वह दैन्य-भाव बरबस उसकी आकृति पर खिंच आता। उसका मुँह खुल जाता और वह भौंचक-सा सड़क की ओर या छत के पार इमारतों की कतारों या राह चलते लोगों को देखने लगता। उसे एक बड़े-से गैंडे का ध्यान हो आता। पहली बार उस गैंडे को पीनक में देखकर वह मुस्कराया था फिर उसने चारों ओर नजरें दौड़ायी थीं। वे सभी मेजों पर झुके थे और जैसे इन्तजार कर रहे थे। तभी उस गैंडे ने एक जोर की छींक मारी और नाक पोंछने लगा फिर उसने थोड़ी-सी सुंघनी नाक में ठूंसी और सिर तिरछा करके लगातार छींकने लगा।

"हूँ ?" इस प्रश्नवाचक से जैसे वह होश में ग्राया।

"जी।" वह मुस्कराया।

"ग्राप श्रीमती उमा मल्होत्रा...?"

"उनके पति...सत्येन्द्र मल्होत्रा..."

"देखता हूँ। बिल तो सारे पास हो गये हैं। कुछेक रह गये हैं। क्यों रह गये हैं? देखता हूँ।" वह खड़ा हो गया ग्रौर फ़ाइलें उलटने-पलटने लगा। बहुत धीरे-धीरे, ताल देता हुग्रा . जैसे सम पर थिरक रहा हो। उसकी बेडौल गर्दन हिल रही थी। सफ़ाचट मूंछों ग्रौर गंजी खोपड़ी पर पसीना झलक रहा था वह उसकी खोपड़ी निहारता रहा। शायद फ़ाइल पर पसीना टपक पड़ेगा।

'हाऽव'...उसने जम्हाई ली ग्रौर बैठ गया। लगभग बैठता हुग्रा चीखा, "रामसरन, पानी, चाह...बीड़ी।" ग्रौर फिर सत्येन्द्र की ग्रोर बिना देखे ही ग्राखें मूंद लीं ग्रौर सिर पीछे टिका लिया।

"बीड़ी तो ग्रापके दराज में है शाब।" चपरासी ने कहा।

"हाँ ग्रा...ब," उसने हाथ के इशारे से चपरासी को चले जाने को कहा। उसका मुंह खुल गया था ग्रौर लाल-लाल लिजलिजे कौए दीख रहे थे। सत्येन्द्र को लगा...उसका मुंह फट जायगा। तड़ाक की ग्रावाज़ होगी। सभी लोग इकट्ठे हो जायेंगे। 'क्या हुग्रा ? किसने किया . बेचारे का मुंह फट गया। उबासियाँ ले रहा था...।' बड़ा ही भोला है... सत्येन्द्र ने उसका मुंह बन्द होते देखकर सोचा। उसने ग्राखें खोलीं . ।

"मिला ?" सत्येन्द्र ने पूछा।

"ऐं। " जैसे वह चौंक गया। फिर उठ खड़ा हुग्रा। केवल एक शब्द, "लंच"! ग्रौर घड़ी की ग्रोर इशारा। फिर दूसरे लोगों को ग्रावाज़ देने लगा, "घोष बाबू चलिये बाहर...। हाय रे, मर गये। सरकार साली...उसे कितने बैलों की जरूरत है। साँडों की एक भी नहीं। सब यहाँ ग्राते ही कूट दिये जाते हैं..." वह एक नौजवान बाबू की ग्रोर देखकर मुस्कराया, "ग्रबे, तेरी साँडनी ग्राजकल नहीं ग्राती। कोई दूसरा सवार मिल गया क्या ?"

सत्येन्द्र उसके साथ ही बाहर निकल ग्राया। इमारत के ग्रहाते में ही एक ग्रोर कोने में ग्रॉफ़िस कैण्टीन थी। वह ग्रादमी दूसरे बाबुग्रों के साथ उधर ही जाने लगा। कैण्टीन में सत्येन्द्र ने भी एक चाय मँगा ली ग्रौर उन सबसे कुछ

दूर हट कर बैठ गया और उनकी ओर देखता हुआ चाय 'सिप' करने लगा ।

"ओए...चण्डूल," वह एक सरदार था । उसने उस आदमी की खोपड़ी पर टहोका लगाया ।

"मुझे इन हरकतों से बहुत चिढ़ है ।" वह बिगड़ खड़ा हुआ । सब ठहाके मार कर हँस पड़े । फिर वे सब गम्भीर होकर उसका मजाक उड़ाने लगे । उसने समोसे निगले और चाय तश्तरी में डालकर पीने लगा । शायद वह एक गैर आदमी की उपस्थिति से इतना चिढ़ने का नाटक कर रहा है । वे रोज ही ऐसा करते होंगे... सत्येन्द्र ने सोचा... लंच खत्म होने पर वे सब बाहर निकले तो सत्येन्द्र भी उनके साथ ही निकल पड़ा । वह चण्डूल ऑफिस में जाने के बजाय बड़े फाटक से बाहर निकल गया । सत्येन्द्र जल्दी से बढ़कर उससे कुछ कदम की दूरी पर उसके साथ-साथ चलने लगा । फिर वह जूते में पालिश करवाने लगा तो सत्येन्द्र वहीं पास में ही फुटपाथ पर टहलता रहा । वह बार-बार घड़ी देखता और कनखियों से सत्येन्द्र की ओर देखकर आसमान की ओर देखने लगता । "हाऽऽ ..." वह शून्य में भौंकता, "और अश मार । मुफ्त का पैसा ... सरकार देती है । पसीने की कमाई है ।" उसने भौंकना बन्द करके फुटपाथ पर थूक दिया और खोपड़ी का पसीना पोंछकर यों छिड़का जैसे गंगाजल छिड़क रहा हो ।

सत्येन्द्र टोह में था और वह आदमी भाँप रहा था और चिढ़ रहा था । दोनों ने आगे पीछे रास्ता तय किया और ऑफिस में आकर बैठ गये । दोनों पूर्ववत् । वह सामने की कुर्सी पर; चण्डूल अपनी ऑफिस चेयर पर ।

'मिला ?" उसने दो-एक मिनट बाद दुहराया ।

चण्डूल किसी चपरासी को बुलाने लगा । वह चुप हो गया । चपरासी आया तो उसने उसे कुछ फाइलें पकड़ा दीं और हिदायतें देने लगा । उसकी समझ में नहीं आ रहा था तो उसने झिड़क दिया । चपरासी चला गया तो वह एकाएक तुरत मृदु होकर किसी अनन्दी बाबू से गुफ्तगू करने लगा । वे कई तरह की बातें कर रहे थे । काम से उन बातों का कोई ताल्लुक न था । तनख्वाह, सिनेमा ट्राम-बस, किराया, हड़ताल, जूट-मिल, मारवाड़ी, बी० सी० राय, नीमतल्ला, बाबू-घाट, बम्मी ... ये कुछ शब्द थे जो बार-बार सुने जा सकते थे । तभी कोई फाइल आ गयी और वे दोनों मातमपुर्सी के लिए झुक गये । चपरासी आकर कह गया कि वह फ़ाइलें पहुँचा आया है । सुनाई पड़ा, "जा, तीली । खाली माचिस

है ।" फिर उसने उठकर पानी पिया ग्रौर चश्मा उतार कर पोंछने लगा ।... सामने घूरता हुग्रा जैसे क्षितिज में बादल देख रहा हो ।

"ग्राप क्या करते हैं ?" ग्रन्ततः उस ग्रादमी ने पूछा । मुखातिब हुग्रा ।

इस व्यक्तिगत दिलचस्पी से वह ग्रन्दर-ग्रन्दर खुश हुग्रा । वह बेकार चिढ़ रहा था । उसके दिमाग़ में ग्रभी तक उस ग्रादमी के लिए केवल वही एक शब्द बार-बार ग्रा रहा था... चण्डूल । उसे पछतावा होने लगा । लोगों के बारे में इतनी जल्दी निर्णय लेना उचित नहीं । वह कुर्सी में थोड़ा ग्रौर ग्राराम से हो गया । ग्रपने को ढीला छोड़ दिया, जैसे इसका ग्रधिकार मिल गया हो । वह सच बोल सकता है । उसी की ज़रूरत है । काम बन जायगा । तो उसने कहा, "मैं पिछले कई महीनों से बीमार था । फ़िलहाल ग्राराम कर रहा हूँ ।"

उस ग्रादमी का ध्यान इधर नहीं था .. एकाएक उसने लक्ष्य किया । वह ग्रपना सवाल भूल चुका था । उसे किसी क़िस्म के जवाब का इन्जतार नहीं था ग्रब वह सदियों दूर था । फ़ाइल में मुँह डाले बड़बड़ा रहा था, "हाँ ग्राडिट की रिपोर्ट में... सारी फ़ाइलें गड़बड़ कर दीं ग्रनन्दी के बच्चे ने । यहीं होगा । निकल तो जाना चाहिए । क्यों रुकेगा... !" उसने ग्रचानक चश्मा उतार लिया ग्रौर सत्येन्द्र को यूँ घूर कर देखा जैसे ग्रसली ग्रपराधी पकड़ लिया हो, "कोई बात होगी । क्या बात है ? ग्राप ग्रपनी बीवी से पूछ ग्राइए । पूरी सूचना लेके ग्राइए । परेशान करते हैं । कोई बात होगी...यहाँ ऐसे देर नहीं होती । सारे बिल्स मैं निपटा चुका हूँ ।" उसने चश्मा पहन लिया ग्रौर कुर्सी से उठ खड़ा हुग्रा । क्या यह जाने के लिए एक इशारा था । हालांकि उसने जाने के लिए नहीं कहा था । वह भी उसके साथ ही कुर्सी से उठ खड़ा हुग्रा । सहसा उसके चेहरे पर वही दीन मुस्कराहट छा गयी ।

"क्या बात है ?" उस ग्रादमी ने जगह छोड़ने के पहले पूछ लिया । जैसे कह रहा हो—"ग्राप जाते क्यों नहीं ? ग्रब मुस्कराने या 'ईज़ी' होने से काम नहीं चलेगा ।" वह सहसा ग्रन्दर से ढह-सा गया । व्यर्थ । उसने व्यर्थ ही सोचा था । वह पहले ही सच था । उसने जल्दी से थूक निगला ग्रौर वाक्य जोड़ने शुरू किए, "ग्रापकी बात सच है । बात है । बात थी । मेरी बीवी ने काम देर से करके भेजा था । वह बीमार थी । दरग्रसल उसे...उसके पाँव भारी थे ।"

"देर से भेजा था ! हूँ..." उसने बीच का एक वाक्य ग्रपनी सुविधा के

लिए पकड़ लिया, "तब क्यों यहाँ जीना हलकान किए हुए हैं! जाइए...। खोज लूँगा बिल। बड़े साहब के पास जायेगा। देर लगेगी।" वह कुर्सी और रद्दी फाइलों की ग्रलमारी के बीच से अपना सफेद सूट बचाने की गरज से 'कर्वे' लेकर निकलने लगा—जैसे 'ट्विस्ट' के तेज 'स्टेप्स' लेने जा रहा हो।

अभी वक्त है। वह इतनी जल्दी नहीं निकल सकता...जैसे राजमार्ग पर—सोच कर उसने अपना अन्तिम वाक्य तेजी से फेंक दिया, "लेकिन साहब, मैंने बताया था न, देर क्यों हुई! मेरी बीवी के बच्चा होने वाला था। और अब तो उसे रेकार्ड्स भेजे भी तीन महीने हो रहे हैं।"

इसकी आशा नहीं थी कि वह आदमी थम जायेगा। वह व्यस्तता का बहाना किये हुए था और छुटकारा पाने की गरज से पेशाबघर जा रहा था। लेकिन वह थम गया। वहीं—उसी गन्दी भीड़ में ..सँकरी जगह की गिरफ्त में—चुप। और उसकी ओर देखने लगा।

"बच्चा होने वाला था?" उसने खड़े-खड़े ज़ोर से पूछा और अपने दूसरे सहकर्मियों की ओर से देखकर मुस्कराने लगा।.. सबसे अन्त में बैठे हुए अधेड़ उम्र के बाबू ने जो इन सबका इंचार्ज था और इसी नाते दिन भर गम्भीर बने रहने का नाटक किया करता था, सहसा अपनी खोल उतार कर कुर्सी पर वहीं लटका दी, जहाँ उसने अपना कोट टांग रखा था। अब वह मुस्करा रहा था। उसे ऐसा करते देख, उस क़ब्रिस्तान के सारे प्रेतों ने मुँह ऊपर उठाया और सत्येन्द्र को देखने लगे। वे मातमपुर्सी से थक गए हैं और मनोरंजन कर रहे हैं। इंचार्ज की मूक आज्ञा मिल चुकी है।. वह चण्डूल परे हट कर बीड़ी सुलगाने लगा। अब उसे पेशाबघर जाने की ज़रूरत नहीं थी। वह ऊब अब लुत्फ में बदल गयी थी।

उसे लगा वह घिर गया है और मौत निश्चित है। वह मौत जिसके बाद वह सड़क पर चलता हुआ दीखेगा—नत-शिर, पसीने में लिथड़ा, अवाक्, अनिश्चित। उन्होंने घेर लिया था और अब वे छोड़ नहीं सकते थे। वे उसे अवश्य ही उस सदेह चीत्कार में शामिल कर लेंगे। वे उसके काले, घुंघराले केशों और सुनहरी त्वचा को यों ही बेदाग नहीं छोड़ सकते...। "इन्हें परिवार-नियोजन के नुस्खे दीजिए दुबे जी..." किसी ने अपनी मेज के पीछे से अचानक गोली दाग दी, "आप तो देते हैं। इनका भी भला कीजिए। आराम भी रहेगा और बिना

काम किये चल भी सकते हैं... ।" और एक सम्मिलित ठहाका । उसे लगा शायद शीशे की खिड़कियाँ चटख जायेंगी और बाहर के सब लोग उसे इस तरह अकेले खतम होते देख लेंगे । क्या गोलियाँ खाने वालों के प्रति इनमें से किसी को भी सहानुभूति नहीं ! वही दीन मुस्कराहट... ।

लेकिन वे काफी सभ्य थे । केवल लुत्फ़ ले रहे थे । वे इस तरह का खून-खराबा देर तक देखने के आदी नहीं थे । वे केवल मिल कर इकट्ठे ही ऐसे मौक़ों का जायज़ा ले सकते थे । अकेले होने पर खुद भी उन्हें अपनी मौत का भय था । हालांकि वे इस तरह की स्थितियों से हज़ार बार गुजर चुके थे और वेहया हो चुके थे... । तभी उस चण्डूल ने उसे उबार लिया । कन्धे से पकड़ता हुआ बग़लगीर हो गया और बाहर निकल आया, "जाइए, दो-चार दिनों में फिर आइएगा । मैं कर दूंगा... । ये . सब अपने ही लोग हैं... ।" आधी सीढ़ियों पर वह एक बन्द दरवाज़ा खोलकर अन्दर घुस गया । चमचमाते हुए कमोड और पाँव रखने की कई जुड़वाँ पट्टियां कौंध कर स्प्रिंगदार फाटक में गुम हो गयीं । ...नमस्कार का इन्तजार करना बेकार था । वह चुपचाप सीढ़ियाँ उतरने लगा ।

"खाक अपने लोग हैं । अपने लोग हैं . हुँह ।...सब अपने लोग हैं," उमा उसके लौटते ही बरस पड़ती, "तुम वहाँ जाते हो, मुझे शक है !... तुम बहुत विनम्र हो जाते होगे । ऐसे काम नहीं चलेगा । कोई भीख माँगते हैं । काम किया है । आलसी, चोर, बेईमान . वे सब करते क्या हैं ! तुम घुल जाते होगे और उनकी चालों में फँस जाते होगे .. ।" उसके हर बार असफल लौट आने पर वह इसी तरह झुँझला पड़ती । वह सारी बातें सोच कर रुआँसी हो जाती, "मैं कहाँ से लाऊँ ? क्या तुम जानते नहीं ?...तुम्हारी दवा तक बन्द है...क्या बच्चे की हालत तुम नहीं देखते... ? तुम भूल जाते हो । बाहर निकलते ही तुम दूसरे हो जाते हो .. ।" वह यही शिकायतें रोज़ दुहराती और टूट कर बैठ जाती । सारे रास्ते वह तरह-तरह के खयालों में डूबता-उतरता घर आता । और इज़हार देने लगता, "हो जायेगा । फ़लाँ दिन को बुलाया है ..अपने ही लोग हैं...सब ।" वह उनकी शिकायतें न करता । चुप रहता । व्यर्थ है । उमा सुख-दुख को सहजता

तक ही सोचने की आदी है... । वे आदमजात हैं । तीन-चार दिन बाद जब वह दूसरी बार गया तो उसे आशा थी । वह पूर्ववत् सामने की कुर्सी पर जाकर बैठ गया और मुस्कराने लगा । लेकिन उस आदमी ने कोई पहचान नहीं जताई । वह कट-सा गया और फिर निराश होने लगा ।

"कहिए ?" उसने चश्मे के अन्दर से उन्हीं आश्वस्त नजरों से भांका ।... इसके लिए उसे कहां ट्रेनिंग दी गयी होगी—मरेन्द्र ने सोचा । क्या उनका कोई नेपथ्य है जहां रोज रिहर्सल करते हैं और मंच पर कभी गलती नहीं करते ?

"वो, मेरा बिल " उसने साभिप्राय कहा ।

"अच्छा हां । ठहरिए, देखता हूं," कह कर फिर उसने अपना रोल पहले दिन की तरह ही शुरू कर दिया । कहीं, कोई गलती नहीं । बस, उसका नुस्खा आज गन्दा नहीं था । तीन घण्टे । उसने आंखें उठायीं और यों देखा जैसे वह अभी-अभी आया हो । फिर कागज पलटने लगा और यथावत बड़बड़ाने लगा, "कहीं होगा तो । कहां होगा ? सारे बिल तो पास हो गये हैं... । यह रहा ।" जैसे उसने जमीन खोदकर चुहिया पकड़ ली हो, उसने कागज ऊपर हवा में उठाया, "श्रीमती उमा मलहोत्रा, ६, शंकर मुकर्जी रोड, भवानीपुर, कलकत्ता-२५ ।" उसने जोर-जोर से पढ़ा, जैसे किसी मुजरिम का पता बता रहा हो, "ठीक !"

मरेन्द्र ने सिर हिला दिया, "हां ।"

"आज बड़े साहब के यहां भिजवा दूंगा । चार-पांच दिन में हो जायेगा ।"

"जी अच्छा," उसने नमस्ते के लिए हाथ जोड़ दिये और उठ खड़ा हुआ। उसे डर था कि अगर उसने जोर डाला या बैठा रहा तो वे पकड़ लेंगे । बाहर आकर उसने राहत महसूस की । सड़क पर चलते हुए उसने सोचा, उमा से चार-पांच दिन की बात बताकर वह निश्चिन्त हो जायेगा । वे किसी तरह चार-पांच दिन और काट लेंगे । उमा धैर्यवान है । वह भुंभलाती भर है । वह समझती है ..सह लेती है । ऐसा सोच कर उसे आराम महसूस हुआ ।

चार-पांच दिन बाद वह फिर गया । उसे डर कम लग रहा था । फिर भी उसने मुस्करा कर पहचान जताने की कोशिश नहीं की । उस आदमी ने उसे देखते ही झट वही फाइल निकाल ली । बिल वाला कागज उसी जगह रखा था, जहां पहले दिन था । उसने ताश के पत्ते की तरह कागज खींच कर निकाल लिया और वही वाक्य झट से दुहरा दिया, "आज ही भिजवा रहा हूं । चार-पांच दिनों में

हो जायेगा... आइए।" उसने बात की अगली कड़ी ही एकदम तोड़ दी।

नियत समय पर वह फिर गया। अब वह काफ़ी कतराने लगा था। घर से निकलते ही वह तीखी रोशनी और शीशे में जकड़ा क़ब्रिस्तान उसके आगे-पीछे नाचने लगता। ठण्डे पसीने से सारा बदन चिपचिपा उठता और लगता जैसे सिर के बाल उड़ गये हैं और वह गंजा हो गया है। वे उसकी गर्दन नहीं दबोचेंगे, न ही हथकड़ी लगायेंगे। लेकिन उनका देखना और टालते जाना...यह कितना खूंखार था। वह अन्दर-ही-अन्दर हार गया था और उन्हें भूल जाना चाहता था। कोई राह निकलती न देखकर उसने उमा से कहा था कि वह भी साथ चले। भारतीय समाज में नारी का बड़ा सम्मान है। शायद उनके नाटक में कोई तब्दीली आ जाए। शायद वे हमारे लिए भी एक संवाद डालें। शायद वे रिहर्सल में कुछ परिवर्तन स्वीकार कर लें और उनका अभिनय उन दोनों को भी समेट ले। 'नारी का सम्मान' वाक्य-खण्ड पर उसकी मुस्कराहट छिपी न रह सकी तो उमा चिढ़ गयी थी। सच असल में यह था कि भय और पराजय के उस ठण्डे माहौल से वह बचना चाहता था। वह सोचता था कि उमा के होने पर उसकी आड़ में वह छिप रहेगा और उमा निपट लेगी। अच्छा होगा—उसे भी इन हत्यारों के छुपे बघनखों का पता तो चलेगा।... लेकिन, यदि उस अपमान का शिकार उसके साथ उमा को भी होना पड़े, तब ? इस बात से ही उसका दिल दहल जाता। उसके साथ यदि उमा भी घिर गयी और उन्होंने उसे भी मारकर उन्हीं खुली सुरंगों में दफ़ना दिया तो ? वे दोनों साथ-साथ सड़क पर चलते हुए दिखायी देंगे—नतशिर, पसीने में लिथड़े, सुन्न, निरीह, हथियार-रहित . असहाय। उसको ले जाने का उसका निर्णय टल गया। नहीं, वह अकेले ही...। वह अपनी इस मृत्यु को कमरे के अन्दर ही झेलना चाहता था। प्रदर्शन से उसे और भी भय लगता था। वह इतना बेहया अभी नहीं हुआ था।

इस बार उस आदमी ने कह दिया—"पन्द्रह दिन बाद आइए। मीटिंग बैठेगी। विचार होगा।"

अब उसे साहस नहीं रहा था। अब वह नहीं जायगा। बाहर आकर वह पैदल ही चल दिया। घर लौटने का साहस नहीं हो रहा था। चौरंगी पार करके वह बड़े घास के मैदान में निकल आया। दोपहर को पूरा मैदान लगभग सूना था और सामने विक्टोरिया मेमोरियल काले बादलों की पृष्ठभूमि में चमक रहा

रह गया : हाय राम ! वहाँ तो तख्त में एक भी खटमल नहीं था। उमा ने बच्चे को उठाया तो उसके नीचे से कई लाल-लाल खटमल इधर-उधर भागने लगे। उन्होंने चादर उठायी। बैंगनी रंग के गद्दे पर उन्हें खोज पाना कठिन था। एकाध कहीं रेंगते हुए दीखते। बाकी सब रोशनी से गद्दों में निर्जीव-से पड़ गये थे या तख्त के चारों ओर निकले छिद्रों में भाग गये थे। उन्होंने चादर झाड़ कर बिछायी और बत्ती बुझाकर लेट गये।

"यह तो बड़ा बुरा हुआ," उमा ने कहा। उसकी आवाज़ से लग रहा था, उसकी नींद हवा हो गयी है।

"सुबह देखेंगे, कोई इन्तज़ाम करेंगे," सत्येन्द्र ने करवट लेते हुए कहा।

"सुबह क्या देखोगे ! ये नोंच देंगे...।" उमा उछल कर बैठ गई और बच्चे को गोदी में उठा लिया। उठकर बिजली आन किया, "ये देखो...तुम सुबह की बात करते हो। बाप रे...इतने मुस्टण्डे...ये तो हमारा खून पी डालेंगे।" वह चादर को परे हटा कर फिर उन्हें मसलने लगी। एक उबली हुई, सड़ी-सी अजीब-सी बदबू सारे कमरे में फैल गयी, "सब भाग गये ..तुम कैसे सोये हो...देखो...हटो ...ये तुम्हें खा रहे हैं।" वह उसकी पीठ के नीचे छुपे खटमलों को मारने लगी। बच्चा जग गया और रोने लगा।

सुबह उन्होंने मकान-मालिक से इस सम्बन्ध में पूछा। उसने हँसकर कह दिया, "वे तो हर जगह हैं। क्या हमारे कमरे में नहीं हैं ! मैं तो आदी हो गया हूँ साहब ! सोये-सोये मसल देता हूँ सालों को...। मैंने बहुत कोशिश की। पता नहीं, कहाँ से चले आते हैं। दिन को कहीं पता नहीं मिलता। आप ही कुछ कर देखिए। जो यहाँ आता है, पहले यही शिकायत करता है। फिर लोगों को आदत पड़ जाती है। आपको भी आदी होना पड़ेगा। कलकत्ते में रहेंगे साहब, तो ट्राम-बस, खटमल-मच्छर से भाग कर कहाँ जायँगे।"

उस दिन उन्होंने बाल्टी भर पानी गर्म किया और तख्त, तिपाई और कुर्सियों को जलते पानी से धो डाला। लेकिन फिर रात को वही हाल। उमा रुआँसी हो आयी, "इस तरह तो मैं पागल हो जाऊँगी। कल रात भर नहीं सो पायी और आज भी यही हाल। कितना पानी छोड़ा, कोई असर ही नहीं।"

"तो मैं क्या करूँ ?" सत्येन्द्र कहता। वे चिड़चिड़ाते हुए रात भर दूसरी बेमतलब की बातों को लेकर लड़ते रहे और जब-तब उठ-उठ कर खटमल मारते रहे।

दो दिन और बीते। वे दिन को सोते और रात को जागने लगे। नीचे वाले किरायेदार ने किरोसिन तेल छिड़कने की सलाह दी। बताया गया—उसकी बू से सारे मर जायेंगे। वैसे हर हफ्ते वह करना पड़ेगा। उन दोनों को किरोसिन की बू से सख्त नफरत थी विवश होकर उन्होंने तख्त और कुर्सियों के पायों में किरोसिन छोड़ा। उन रात उसकी बदबू के कारण नींद लेना मुश्किल था। उमा नाक दबाती, फिर दो-चार साँसें जल्दी-जल्दी लेकर फिर बन्द कर लेती। यह प्राणायाम लगभग रातभर चलता रहा। सत्येन्द्र खिड़की की ओर मुँह किये लेटा था, कि शायद हवा से तेल की भभक नाक में न जाये। अब व नहीं आयेंगे—ऐसा सोचकर उन्होंने सोने का उपक्रम किया। शायद थोड़ी देर को झपकी आ गयी थी। आधी रात के क़रीब सत्येन्द्र की आँख खुली। उमा फ़र्श पर बैठी हुई ऊँघ रही थी। बच्चा उसकी गोद मे सो रहा था। बत्ती जल रही थी। वह उठ कर बैठ गया। उठते ही उसके सिर, टाँगों और बगल के नीचे दुबके हुए सैकड़ों खटमल द्रुत गति से भाग कर नीचे गद्दे में सरकने लगे। तो ये रोशनी मे भी आ टपकते हैं! उसने घड़ी देखी। अभी कुल जमा डेढ़ बज रहे थे। उसके रोंगटे खड़े हो गये। तो . आज भी सोने को नहीं मिलेगा! उसे एक अजीब-सी असहायता का बोध हुआ। क्या हो सकता है! अंत मे वह भी नंगे फ़र्श पर बैठे-बैठे सोने की कोशिश करने लगा। रोशनी पुतलियों के भीतर तक चिलचिला रही थी। और नींद उसने सोचा—थोड़ी-सी भी आ जाये . ।

उन्होंने कुछ और उपाय किये। खुरदरे कम्बल बिछाये। ज़हरीली दवाएँ लाकर पूरे कमरे में छोड़ दी और दिन-भर खिड़कियाँ-दरवाज़े बन्द करके बाहर घूमते रहे। शाम को लौट कर कमरा खोला तो वह पूरा गैस-चैम्बर बना हुआ था। लेकिन इन सारी कोशिशों का कोई विशेष फल न निकला। काले खुरदरे कम्बल पर उन्हें 'डिटेक्ट' कर पाना लगभग असम्भव था। ज़हरीली दवा कारगर न हुई। एक-दो रातों तक तो उनकी आमद कम रही, लेकिन तीसरी रात वे पहले से भी ज्यादा तादाद में सारे बिस्तर में फैल कर अपने शिकार को मज़े मे चूस रहे थे। .एक अजब-सा खौफ़नाक माहौल था। उनकी समझ मे न आता कि इसका खात्मा किस तरह होगा। लगातार रात्रि जागरण से उन दोनों के चेहरे बिलकुल बन्दरनुमा हो गये थे। गाल धँस गये थे, कनपटी की हड्डियाँ उठ आयी थी और आँखें गड्ढों में होते हुए भी बाहर को निकली पड़ती थी। जैसे वे लगा-

बार कई दिनों से अनाहार हों। सुबह के उजाले के साथ जब खटमल तख्त के पायों और दूसरी सुरक्षित जगहों में जा छिपते, उन्हें गहरी नींद घेर लेती। नीचे के दूसरे किरायेदार और मकान-मालिक · सब को वह बड़ा अजूबा लगता। क्या ये इसी शहर में रहते हैं या किसी कस्बे में? क्या इस महानगर में भी इतने दिन चढ़े तक कोई सोने का साहस कर सकता है? कुछ लोग व्यंग्य भी करते—'मजा मौज़ है . ।' 'मजा कहाँ है साहब! बेकारी का सुख है।' 'सो तो ठीक, लेकिन पेट महाराज का क्या होता है।' नीचे वाले तल्ले में गली की ओर के कमरे में एक सुनार रहता था। ठुक . ठुक ..ठुक ठुक ठुक.. वह सारी बातों को बीच-बीच में रुक कर सुनता जाता। फिर उन पर हथौड़ियाँ मारता और उन्हें गढ़ता। अजीब-अजीब आकारों में। सारे मुहल्ले के लोग उसमें रस लेते। वह लंगड़े चश्मे की इकल्ली कमानी थामे ऊपर की ओर देखता और मुस्कराकर कहता, "वाह रे दुनिया . अजब तेरी माया भगवन्...।" फिर वही ठुक ठुक.. ठुक ठुक.. ।

वे दोनों बहुत थक गये थे और बीमार नज़र आते थे। वे बच्चे के लिए बहुत चिन्तित थे। उसकी रखवाली में सारी रात बीत जाती। माँ-बाप के साथ वह भी सारा दिन नींद में सुस्त पड़ा रहता या चिड़चिड़ाता रहता। इधर वे बहुत तंगदस्ती से गुज़र कर रहे थे। बरसात के दिन थे। अक्सर वे आम और डबलरोटी पर गुज़ार देते। लेकिन नाटक करने के लिए चूल्हा तो जलाना ही पड़ता। धुएँ से नीचे वालों को एहसास हो जाता कि वे इस घर में रहने लायक़ हैं। उनके यहाँ खाना पकता है। वे किराया अदा कर सकते हैं। वे भगोड़े लोग नहीं हैं।... उमा को दूध इधर कम होता जा रहा था और बच्चे का पेट अक्सर खाली रहता। जब वह भूखा ही सो जाता और नींद में सिसकियाँ लेने लगता तो वह बरबस लेट कर स्तन उसके मुँह में दे देती। बच्चा एक आक्रमणकारी की तरह झपट्टा मार कर स्तन पकड़ लेता और चुभलाने लगता। वह बार-बार उसका पेट छूती और उठने का इन्तज़ार करती। बच्चा थक जाता और चिड़चिड़ा कर चीखना शुरू कर देता।

"यह अभी से भुखमरी का शिकार है," उसके मुख से बेसाख्ता निकल जाता। जैसे मात्र इस अभिव्यक्ति से ही वह बदला चुका सकती हो।

"उन्होंने वादा किया है," वह कहता।

"मिले तो पहले।"

फिर वे ज़रूरी सामान की फेहरिस्त बनाने लगते। थोड़ी देर के लिए भूल जाते। सहसा सत्येन्द्र की नजर करवट लेटी उमा पर पड़ती।... कूल्हे की उठी हुई हड्डियां और चिपके हुए नितम्ब। उसे विश्वास नहीं होता। वह चाहता कि उमा को सीधा लेटने को कह दे। वह नजरें फेर लेता ..। कौन विश्वास करेगा कि हम भूखों ..। यह बात मन मे आते ही कितनी हास्यास्पद लगती! जैसे वह दूसरो की ऐसी स्थितियों के बारे मे सोच रहा हो। खुद से अलग.. खुद के बारे मे...। फिर वे टाल जाते और सोचते अठारह तारीख को तो दे ही रहे हैं वे लोग। इन बीच के दिनों मे वे जैसे नही हैं। अठारह तारीख को वे फिर लौट आएँगे और अपनी शक्लों मे समा जायेंगे। बीच के ये दिन पल भर मे उड़न-छू हो जायें... और वही दिन— दिन के रूप में शुरू हो।

उसी अठारह तारीख को उस मददगार आदमी ने कह दिया, "पन्द्रह दिन बाद आइए। मीटिंग बैठेगी। इस बिल पर विचार होगा।" और उसका साहस खत्म हो गया था। चौरंगी के बड़े मैदान में घंटों एक लावारिस की तरह वह पड़ा छटपटाता रहा। उसने सोचा था, वह थोड़ा सो सकेगा लेकिन अचानक इन बातों को सोचकर उसे एक झटका लगा और नींद गायब। फिर शाम तक वह यों ही पड़ा रहा। जैसे उसे गोली लग गयी थी और यहाँ आ गिरा था। लोग मरने के पहले उसे जिबह करने के लिए ढूंढ रहे थे। अन्यथा वह बेकार हो जायगा। उनकी मेहनत बेकार चली जायगी।

यह पाँचवी बार था।

उसने अपने चेहरे से यह दैन्य खींच कर फेंक दिया। अब उसका चेहरा जल रहा था। घुसते ही उस चण्डूल ने चश्मा उतार कर रख दिया और घूरने लगा। उसकी आँखों मे देखते ही वह हतप्रभ हो गया। जैसे उसने (सत्येन्द्र ने) साप की तरह अपना फन उठा कर फाइलों पर पटक दिया—'कहाँ है मेरा बिल? निकालो अभी।' उस आदमी ने पूछना चाहा—'क्या आप दौड़ते आ रहे हैं? चेहरा इतना सुर्ख क्यो है?' लेकिन वह चुप रहा और इन्तजार करता रहा—

मत्येन्द्र ने सत्य किया। उमा ने उसका टैग्स उठाकर अपने चेहरे से चिपका लिया था। तो वही हुआ, जिसका डर था। "देखिए। बुलाता हूँ," उसने घण्टी बजायी।

उस चण्डूल और सूत्रधार के बीच में कई छोटे-मोटे अभिनेता और थे। उसने चिट सेक्रेटरी के नाम भिजवायी, तो उस पर कुछ लिखकर वापस आ गया। उसने चिट एक तरफ़ रख दी और कोई फ़ाइल देखने लगा। फिर दस मिनट बाद उसने पढ़ा और दुबारा कुछ लिखकर घण्टी के सुपुर्द कर दिया। चपरासी फिर यथावत् लौट आया। चाय का वक़्त हो गया था। वह चिट रखकर कोने में रखा स्टोव बाहर ले जाने लगा। "जाइए, आपको बुलाया है। आप सीधे उन्हीं से मिल लेते। मेरे बिना भी काम बन जाता।" वह उठ खड़ा हुआ, तो वे भी उठे। उसने नमस्ते पर ध्यान नहीं दिया और कोने में स्टैण्ड पर लगे पर्दे के पीछे चला गया। उसके पसरने और सोफ़े पर धँसने की आहट सुनायी दी। बाहर आकर उन्होंने चपरासी से सेक्रेटरी का कमरा पूछा। उसने इशारे से दिखला दिया और स्टोव में हवा भरने लगा।

कुछ मिनटों तक वे अन्दर रहे और पसीना पोंछते हुए बाहर आ गये। फिर एक दूसरे कमरे में घुसे और वहाँ से भी वापस आ गये। अब वे मंच पर थे और दूसरे दर्शक बने हुए थे। चायदानी में गर्म पानी डालता हुआ चपरासी मुस्कराया, "क्या हुआ ?" उसने पूछ लिया। शायद वह भी भेदिया हो। निकल भागने की गुप्त सुरंगों का पता बता दे।

"साहब क्या कर रहे हैं ?" उसने पूछा।

"साहब दोपहर में थोड़ा आराम करते हैं। अभी चाय पियेंगे।"

वह उमा की ओर मुख़ातिब होकर खड़ा हो गया। "अब" ?

जिस अफ़सर से काम बन जाने की बात मैनेजर ने कही थी वह भी बड़ी शालीनता से पेश आया। उसने चण्डूल को बुला भेजा, तो वे दोनो बड़े ख़ुश हुए। लेकिन शायद वह पहले से ही तैयार बैठा था। इस बार उसने और भी ख़तरनाक वार किया। उसने एक नियमावली अफ़सर के सामने पेश करके एक विशेष जगह उसकी रख दी, "इसे पढ़ लीजिए साहब।" वह बहुत शान्त और आश्वस्त था।

"सुनाओ पढ़के," अफ़सर को लगा, उसकी तौहीन की जा रही है। अगर ये दो बाहरी आदमी न रहते तो वह शायद पढ़ लेता या बाद में पढ़ने को वह फ़ाइल

या सूत्रधार की तन्मयता देखने लगते। वह बीच-बीच में फ्रिज से एक मुस्कान बाहर निकाल कर उनके स्वागत में पेश कर देता और फ्रिज उसके बाद अपने-आप बन्द हो जाता। उसने कई बार घण्टी बजायी थी। चपरासी अन्दर आता और कोई आदेश न पाकर पर्दे के बाहर खिसक जाता।

"चण्डूल ?"

चपरासी उसका मुँह ताकने लगा।

उसने कड़क कर आदेश दिया और उसके बाहर जाते ही फ्रिज का दरवाज़ा पूरा खोल दिया। स्टैनो उठकर चुपचाप खिसक गया। क्या वह उन दोनों को भी फ्रिज के अन्दर रख लेगा और सड़ने से बचा लेगा—सत्येन्द्र ने सोचा।...तभी वह चण्डूल एक फ़ाइल लिए हुए पर्दा हटा कर अन्दर दाखिल हुआ। वह कुछ सहमा और खिजलाया हुआ था। हालाँकि वह मैनेजर के अलावा दूसरी ओर नहीं देख सकता था फिर भी उसके आग्नेय नेत्र एक बार उन दोनों की ओर उठ ही गये।

"क्यों भई, क्या बात है ?"

"सर, इन्होंने बहुत तंग किया। सारे रेकार्ड आ गये थे। केवल इन्होंने ही दौड़ाया। बहाना करती रहीं। यह इनका कॉरस्पॉण्डेंस है," उसने पूरी फ़ाइल आगे कर दी।

वे दोनों अवाक् थे। तो यह बात थी। लेकिन उसने पहले तो कभी नहीं कहा। अब ? अब वह 'पोज़ीशन' ले लेगा। अब वह और तंग करेगा। उसके पास समय है। वह पूरी नाकेबन्दी कर लेगा। उसे लगा कि उन दोनों पति-पत्नी ने ग़लत निर्णय लिया है। उन्हें चुनौती नहीं देनी चाहिए थी...। शायद वह दैन्य काम कर जाता। लेकिन उस 'क्लाइमेक्स' पर आकर उनका धैर्य छूट गया था और उन्होंने नयी क़िलेबन्दी करना चाही थी। उसने उमा की ओर देखा। अब वे दोनों पछता रहे थे।

मैनेजर की आँखें उन कागज़ों पर फिसल कर उनकी तरफ़ उठ गयीं। फ्रिज का दरवाज़ा ज़रा-सा खुला, फिर बन्द हो गया। उसने पत्र-व्यवहार से कोई भी पत्र पूरा नहीं पढ़ा था। "जाइए," उसने चण्डूल को आदेश दिया और अपनी उंगलियाँ एक-दूसरे में फंसा कर उनकी तरफ़ देखने लगा, जैसे यह कह रहा हो—'मैं जानता था, यहाँ से कोई ग़लती नहीं होती।...'

"क्या कुछ नहीं हो सकता ?" उमा ने पूछा।

सत्येन्द्र ने लक्ष्य किया। उमा ने उनका दैन्य उठाकर अपने चेहरे से चिपका लिया था। तो वही हुआ, जिसका डर था। "देखिए। बुलाता हूँ," उसने घण्टी बजायी।

उस चण्डूल और सूत्रधार के बीच में कई छोटे-मोटे अभिनेता और थे। उसने चिट सेक्रेटरी के नाम भिजवायी, तो उस पर कुछ लिखकर वापस आ गया। उसने चिट एक तरफ रख दी और कोई फाइल देखने लगा। फिर दस मिनट बाद उसने पढ़ा और दुबारा कुछ लिखकर घण्टी के सुपुर्द कर दिया। चपरासी फिर यथावत् लौट आया। चाय का वक्त हो गया था। वह चिट रखकर कोने में रखा स्टोव बाहर ले जाने लगा। "जाइए, आपको बुलाया है। आप सीधे उन्हीं से मिल लेते। मेरे बिना भी काम बन जाता।" वह उठ खड़ा हुआ, तो वे भी उठे। उसने नमस्ते पर ध्यान नहीं दिया और कोने में स्टैण्ड पर लगे पर्दे के पीछे चला गया। उसके पसरने और सोफे पर धसने की आहट सुनायी दी। बाहर आकर उन्होंने चपरासी से सेक्रेटरी का कमरा पूछा। उसने इशारे से दिखला दिया और स्टोव में हवा भरने लगा।

कुछ मिनटों तक वे अन्दर रहे और पसीना पोंछते हुए बाहर आ गये। फिर एक दूसरे कमरे में घुसे और वहां से भी वापस आ गये। अब वे मंच पर थे और दूसरे दर्शक बने हुए थे। चायदानी में गर्म पानी डालता हुआ चपरासी मुस्कराया, "क्या हुआ ?" उसने पूछ लिया। शायद वह भी भेदिया हो। निकल भागने की गुप्त सुरंगों का पता बता दे।

"साहब क्या कर रहे हैं ?" उसने पूछा।

"साहब दोपहर में थोड़ा आराम करते हैं। अभी चाय पियेंगे।"

वह उमा की ओर मुखातिब होकर खड़ा हो गया। "अब" ?

जिस अफसर से काम बन जाने की बात मैनेजर ने कही थी वह भी बड़ी शालीनता से पेश आया। उसने चण्डूल को बुला भेजा, तो वे दोनों बड़े खुश हुए। लेकिन शायद वह पहले से ही तैयार बैठा था। इस बार उसने और भी खतरनाक वार किया। उसने एक नियमावली अफसर के सामने पेश करके एक विशेष जगह उंगली रख दी, "इसे पढ़ लीजिए साहब।" वह बहुत शान्त और आश्वस्त था।

"सुनाओ पढ़के," अफसर को लगा, उसकी तौहीन की जा रही है। अगर वे दो बाहरी आदमी न रहते तो वह शायद पढ़ लेता या बाद में पढ़ने को वह फ़ाइल

मुँह ओर ताकता रहा।

"यदि नियत समय पर रेकार्ड नहीं भेजे गये, तो फ़र्म अपने नियम के मुताबिक प्रति दिन दो रुपए के हिसाब से पारिश्रमिक में कटौती कर सकती है," वह बता गया, "उन्होंने ढाई महीने देर से भेजा है। बेकार तंग करते हैं। मैंने कहा था—साहब तंग करेंगे। मीटिंग में पेश होगा," उसने पूरी सफ़ाई दे दी।

"बिल कितने का है?" सेक्रेटरी ने पूछा।

"२१५ रु० ३६ पैसे का।"

वह क्षण भर कुछ सोचता रहा। फिर बोला, "अच्छा, जाओ।"

उसके बाद उन्हें अर्थ विभाग में भेजा गया। शायद वहाँ कुछ हो सके।...

वे बाहर निकल आये और लॉन में टहलने लगे। तय हुआ कि एक बार वे मैनेजर से फिर मिलेंगे। सत्येन्द्र एक ओर कोने में जाकर बैठ गया। पत्नी वहीं आकर खड़ी हो गयी। क्या वे एक दूसरे पर भी व्यर्थ के वार करेंगे। वे शायद इस नयी क़िलेबन्दी से झुंझलाए हुए थे और एक-दूसरे को इसके लिये मन-ही-मन दोषी समझते थे। तभी लंच हो गया। झुण्ड-के-झुण्ड कर्मचारी कैण्टीन की तरफ़ जाने लगे। वह चण्डूल भी अपने साथियों के साथ निकला। उन्होंने इधर देखा। शायद कोई गन्दा मज़ाक़ किया और ज़ोर से हँस पड़े। सत्येन्द्र ने चेहरा दूसरी ओर घुमा लिया और चारदीवारी की झंझरियों से बाहर सड़क की ओर देखने लगा। कोई ट्राम जा रही थी। उसकी गड़गड़ाहट उसने अपने पैरों के नीचे महसूस की।..क्या वह पीठ पर वार कर सकती है। वह सह नहीं सकता। "मैं चपरासी से पूछ आऊँ, मैनेजर आराम करके कितने बजे आ बैठता है," उसने कहा और आफ़िस की ओर जाने लगा। जाते-जाते उसने एक निगाह पत्नी पर डाली। शायद उसने सुना नहीं था, या वह समझती थी। वह भागता हुआ सीढ़ियाँ चढ़ गया।

"तीन बजे," उसने लौट कर बताया, "देवी?" वह पत्नी की ओर देखने लगा। वे उसे मकान-मालकिन के पास छोड़ आये थे।

"........."

"मेरा ख़याल है, मैनेजर से फिर मिलना बेकार है। सेक्रेटरी और ये बीच के सारे लोग चिढ़ जायेंगे। तब और भी कठिन होगा।"

"चिढ़ जायँ.. मैं नहीं जाती यहाँ से। चोर, बेईमान...जल्लाद हैं सब-के-सब। मैं अपना पैसा लेके जाऊँगी। मैं जाऊँगी नहीं। देखूं.. देखती हूँ।"

यह कितनी हास्यास्पद बातें करती है। इतनी सहजता से आशा करना कितना हास्यास्पद है! ठीक है। शायद इसी तरह कुछ हो जाये। सत्येन्द्र चुप रह गया।

"बेबी ?" उसने फिर दुहराया। उसने सोचा, शायद वह इस तरह पत्नी को बचा ले। वह नहीं जानती क्या होगा। वह सह नहीं सकती। बाद में प्रदर्शन करती फिरेगी।

"भाड़ में जाये," जैसे कोई हथगोला फूट गया हो। सत्येन्द्र स्तम्भित रह गया। क्षण भर बाद ही वह बिफर गयी। उसने बच्चे के लिए ऐसा क्यों कहा। अब वह पछता रही थी।

वे तीन बजे फिर मिले। मैनेजर ने फिर सेक्रेटरी को चिट भिजवायी तो उसने उस पर कुछ लिखकर वापस भेज दिया। "देखिए, वे बिज़ी हैं। मुझसे बात कर लेंगे। आप ऐसा करिए कि अगले हफ्ते शनिवार को आइए। मैं करवा रखूंगा," उसने हाथ जोड़ दिये। वह बड़ा धैर्यवान था। उसके चेहरे पर कहीं झुंझलाहट नहीं थी। उसके अनुभव काफी गहरे थे। बाहर निकल कर बिना कुछ बोले वे ट्राम-स्टैण्ड पर आकर खड़े हो गये। टर्मिनस छोड़ते ही ट्राम मैदान के बीच से होकर गुज़रती थी। ठण्डी हवा लगते ही दोनों ऊंघने लगे। विक्टोरिया मेमोरियल वाले स्टैण्ड पर किसी ने 'लेडी-सीट' के नाम पर उंगली से उसे कोंच दिया। वह झुंझलाता हुआ उठ गया। वह स्त्री उमा की बगल में बैठ गयी तो उसकी भी नींद खुल गयी। उसकी आंखें लाल थीं। उसने खिड़की के बाहर देखा। वह जानना चाहती थी कि उसका ट्राम-स्टैण्ड अभी कितनी दूर है। वह घर पहुँच कर चिपटा कर रोना चाहती थी शायद।

उसे फिर जाना पड़ेगा -- यह सोच कर वह पस्त हो रहा था। शायद अन्तिम बार। क्या उमा चली जायगी। उसका साहस नहीं हुआ पूछने का। उसे वे सारे लोग याद आने लगे -- वह चपरासी, वे उसके सहयोगी। वह सूत्रधार, चपरासी और सेक्रेटरी। सीढ़ियों पर बगल में वह चमचमाता कमोड और कई जोड़ी पांव रखने की उजली पट्टियां। 'चर्रर' के साथ बन्द हो जाता वह स्प्रिंगदार फाटक। उसे खड़े-खड़े नींद आने लगी।

नींद और रात की याद आते ही उसे फिर उसी भय ने जकड़ लिया इधर रात को नींद लेना बिलकुल मुहाल हो गया था। बचाव के लिए उन्होंने फर्श पर बिस्तर लगाना शुरू कर दिया था। एक-दो रातों तक वे उन्हें धोखा देते रहे।

लेकिन एक दिन उन्होंने पाया कि वे फ़र्श पर चारों ओर से रेंगते हुए चले आ रहे हैं। उन्होंने देखा, दीवार के गिरते पलस्तर में से निकल कर वे झुण्ड-के-झुण्ड क़तार बाँधे चले आ रहे थे। दूसरे दिन सुबह उन्होंने सारे गिरे हुए पलस्तर उखाड़ दिये। एकाएक उनके सामने रहस्योद्घाटन हो गया। सारी दीवार खदर गयी थी, जैसे भयानक चेचक से आदमी का बदन। और उन हज़ारों-लाखों नन्हें-नन्हें छेदों में वे भरे पड़े थे। उसके बाद उन्होंने रात को नींद लेने की आशा छोड़ दी थी। वे दिन भर सोते और रात को तैनात हो जाते। तीखी चिलचिलाती रोशनी में बिस्तर एक चमचमाते रेगिस्तान की तरह दीखता। वे बच्चे को बीच में सुला लेते और दोनों ओर बैठ जाते। वर्षा होती तो छत पर बूंदें आतीं—जैसे छत को पसीना आ रहा हो। नीचे अपने अँधेरे, कच्चे कमरे में आधी-आधी रात तक वह सुनार अंधेरे की छाती में कीलें ठोंकता। आँगन में रखे नीचे वाले किरायेदारों के जूठे बर्तनों से सड़ी मछली की बू और छज्जे के कोने से पेशाब का भभका पूरे कमरे में भर जाता। कभी-कभी सामने शीशे में उसकी नज़र जाती। वह एक सूखे दैत्य की तरह दीखता। कभी उमा और कभी वह झपकी ले लेते। शायद वे आदी हो रहे थे। फिर चौंक कर उठ जाते और भूलने की कोशिश करते। लेकिन खटमल भी कम चालाक नहीं थे। वे काफ़ी ख़तरा मोल लेने लगे थे। वे अब दिन को भी ज़रा-सा मौका पाते ही दीवार से निकल कर बिस्तर और चादर में 'पोज़ीशन' ले लेते। गद्दे और चादर में फ़र्श की सीलन छेद कर ऊपर तक आ जाती और लेटने पर एक अजीब-सी ठण्डी बू सारे बदन में रेंगने लगती। अक्सर ऐसे में उसके दिमाग़ में हार कर एक शब्द टकराया—आत्महत्या। लेकिन उन्हें लगता कि यह शब्द भी केवल जासूसी किताबों में आता है। ऐसी ख़बरें पढ़-सुनकर भी ऐसा करना उन्हें असम्भव लगता। जैसे वे कोई काल्पनिक कहानी सुन रहे हों। जैसे कोई उन्हें देखकर मज़ाक़ कर रहा हो...।

हफ़्ते का वह अन्तिम दिन—शनिवार। उसे देर नहीं लगी थी। शायद कुल मिलाकर पन्द्रह-बीस मिनट। काम हो गया था। और वह बाहर सड़क पर चला जा रहा था—नत-शिर, अवाक्। उसका दैन्य उसके चेहरे से चिपका हुआ खुद भी सूख गया था। वहाँ मात्र एक झिल्ली थी। हवा में वह झिल्ली फड़फड़ा

उठती, तो उसके नीचे एक मजूबा-सा चेहरा नजर आता। . उन्होंने देर नहीं की थी—"हाँ साहब, हो गया है। यह लीजिए। कहाँ है अथारिटी लेटर ..दस्तखत कीजिए। ६५ रु० ३६ पैसे का 'आॅर्डर चेक' प्राप्त किया। हाँ, मीटिंग बैठी थी। बड़े साहब ने यह पास किया। हम नियम के खिलाफ कैसे जा सकते हैं ~ बताइए? वजह कुछ भी हो सकती है। हमारे नियम में यह तो नहीं है कि देर किस वजह से हुई . कि आपकी पत्नी के पाँव भारी थे या आप . । देर तो देर।"—वैसे वे सब चुप थे और उनके लिए कुछ नहीं हुआ था। वे शान्त थे। उन्होंने निर्णय ले लिया था और उसे लागू भरकर देना था। केवल अपनी विजय की खबर उनकी बुशर्ट के पीछे चिपका देनी थी। उसने पूछा नहीं था कि ऐसा क्यों हुआ। इसका एहसास था उसे। इसीलिए वह अकेले ही आया था। उमा को नहीं ले आया था। एक बार उसके मन में आया—चेक वह वापस कर दे। फर्म के नाम दानखाते में डाल दे। लेकिन दूसरे ही क्षण उसका इरादा बदल गया था। वे अपनी विजय को इस तरह हल्का नहीं करेंगे। वे यह सन्तोष उसे नहीं दे सकते।

वह जल्दी से बाहर निकल आया था और अब सड़क पर चला जा रहा था। .. एक भय के खत्म होने के बाद दूसरा भय। एक पराजय के बाद दूसरी पराजय की ठण्डी, चिपचिपी अनुभूति। वे हर जगह हैं और वे बर्दाश्त नहीं कर सकते कि उनसे अलग कोई कुछ दूसरा क्यों है! वे उस शरीरधारी चीत्कार में हर किसी को शामिल करने की ताक में बैठे रहते हैं। वह उनसे पृथक् क्यों था? उसके सिर पर अब तक काले घुँघराले बाल कैसे थे? वह गंजा क्यों नहीं हो गया था? उसने चलते-चलते सोचा - वह अब तक यह क्यों नहीं समझ पाया था? तब कितना आसान होता! उसे चारों ओर गुजरती, भागती भीड़, ट्रामों, बसों से झाँकते चेहरों और अपने चेहरे में एक अद्भुत साम्य दीखा। यह साम्य शायद पहले नहीं था। एक अजीब साम्य—एक विचित्र-से पराभव का अपनापा, जिससे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और निश्चिन्त हैं। ऐसा सोच कर उसे थोड़ी-सी शान्ति महसूस हुई कि चलो, वह अपने पराभव में अकेला नहीं है। क्यू में खड़े एक आदमी की तरफ देखकर वह अनायास ही मुस्करा पड़ा, जैसे उसे पहचान रहा हो। जवाब में वह आदमी भी मुस्करा पड़ा। फिर वे दोनों क्यू में सीधे हो गये और आगे खिसकने लगे।

आइसबर्ग

नींद खुलते ही विनय की नज़र खिड़की से बाहर चली गई। धूप का कहीं नामोनिशान तक नहीं था। सामने का मैदान कोहरे में गुम था। उसने टाइमपीस पर नज़र डाली। साढ़े-आठ बज रहे थे। तो ज़रूर बदली है। तभी कोहरा छूट नहीं रहा।... भोर में, जब दद्दा (पितामह) को लाने स्टेशन गया था, तो कहीं कुछ नहीं था, बल्कि कोहरे से धुले आसमान के सफ़ेद नीलेपन में सितारे निखर आए थे। और नवाब-युसुफ़ रोड की बत्तियों का 'कर्व' दूर-दूर तक सन्नाटे में आँखें झिपझिपा रहा था।. फिर चन्द घण्टों में ही यह घटाटोप। उसका मन अजीब तरह से उदास हो आया। अगर कहीं वारिश होनी शुरू हो गई हो तो?... सारा मजा किरकिरा हो जायगा।

एक तरह पिछली सारी रात वह जागता ही रहा था। जगत (चचाज़ाद बड़ा भाई) और सुबोध (सगा छोटा भाई) कालका से आए थे। दिल्ली स्टेशन पर ही दोनों की भेंट हो गई थी। बेबी (बड़ी बहन) 'अपर-इण्डिया' से और दद्दा सुबह 'तूफ़ान' से। जब भी झपकी आती, वह उठ बैठता। इस डर से कि कहीं किसी की गाड़ी न 'मिस' कर जाए।... सबसे पहले जगत और सुबोध आये थे। एक बार तो वह नर्वस हो गया था। सारी गाड़ी देख डाली वे लोग नहीं मिले। निराश होकर उसने सोचा कि फाटक के पास जाकर खड़ा हो जाए और सारे मुसाफ़िरों को देख जाए। इसी हड़बड़ी में वह दौड़ता हुआ फाटक की ओर जा रहा था कि जगत ने उसे ज़ोर से पुकार लिया, "बिन्नू।"

नाम सुनकर उसे एकाएक विश्वास नहीं हो सका था। जगत की आवाज़ कित्ती फटी-फटी-सी लग रही थी।

"तुम उधर कहाँ जा रहे थे?"

"फाटक के पास। मैंने सोचा मिस न कर जाऊँ।" उसने सुबोध पर नज़र डाली। वह क़ुलियों को सामान सहेज रहा था। बच्चे सभी नींद की खुमारी में

।। उसने एक बार उनकी तरफ देखा और मुस्कराया । फिर कोई कुछ नहीं
ोला । वह एक रिक्शा अलग तय करके बैठ गया और उसे आगे-आगे चलने को
कह दिया ।

बंगले आकर सभी ड्राइंग-रूम में बैठ गए कुछ इस भावसे कि 'अब आगे
का प्रोग्राम क्या है ।' नौकर से उसने सभी के बिस्तर लगाने को कह दिया और
खुद भी आकर वहीं बैठ गया । जैसे कोई किसी से बात न करना चाहता हो ।
बच्चे फिर ऊँघने लगे थे । जगत उठकर बाथरूम पूछता हुआ बाहर निकल गया ।
थोड़ी देर चुप रहकर जैसे उसने साहस बटोर कर छोटे भाई से खाने के बारे
में पूछा ।

"खाना तैयार है ?" सुबोध ने पूछा ।

"अभी तो शायद न हुआ होगा । मैंने सोचा था, तुम लोगों से पूछ लूंगा ।"

"पूछना क्या था ?"

"किचन में तो एक नैपाली छोकरी बैठी है ।" यह सुबोध की बीवी थी ।
उसके कहने का ढंग कुछ अजीब-सा था । विनय ने उसकी ओर देखा तो वह बाहर
देखती हुई मुस्कराने लगी ।

"नौकरानी है ।" उसने यों कहा जैसे किसी अपराध के प्रायश्चित स्वरूप
कन्फेस कर रहा हो ।

इस पर कोई कुछ नहीं बोला । सुबोध ने कहा कि उन लोगों (उसका मतलब
अपने बीवी-बच्चों से था) को भूख लगी है । अतः वह वहीं होटल में पका हुआ
खाना लाना बेहतर है । विनय की हिचकिचाहट पर उसने कहा कि "इसमें तकल्लुफ
की क्या बात है । बल्कि इसी में जल्दी हो जाएगी ।" फिर वह मना करने के
बावजूद खाने चला गया था ।

जगत अपने कमरे में टाँग-पर-टाँग चढ़ाये बैठा छत ताक रहा था । उसकी
बीवी अपने छोटे बच्चे को सुला रही थी । उनके चेहरे से लगता था, जैसे वे
अभी किसी बात पर लड़ चुके हैं । क्या इसीलिए उसने खत डाल-डालकर सभी
को बुलाया था ? विनय के मन में फिर वैसी ही निराशा ने घर कर लिया । उसे
लगा कि सभी अपने आने का अहसान जता रहे हैं और असुविधा महसूस कर
रहे हैं । यह विचार मन में आते ही उसके दिल को अन्दर-ही-अन्दर कहीं बहुत
गहरी ठेस-सी लगी । क्या सच में अब वह सब कुछ लौट नहीं सकता ? क्या

मन में उसने पश्चात्ताप किया है ? क्या मात्र उसका 'अकेलापन' ही उसका अपना है ।

"तुम्हारे लिए भी खाना बाहर से मँगवाने की जरूरत नहीं आई साहब ?" उसने जगत से पूछा ।

"क्यों ?"

"हाँ-हाँ मँगवा लीजिए न ।" उसकी बीवी बीच ही में बोल पड़ी ।

"नौकर ने खाना तैयार नहीं किया था । सुबोध को भूख लगी थी वह नौकर को लेकर स्टेशन से खाना लाने चला गया है ।"

"गुड गॉड । भूख तो हमें भी लगी है । हमारे लिए भी मँगवा लेते ।" जगत ने कहा ।

"अच्छा," कहकर वह बाहर जाने लगा ।

"सुनो, बिन्नू .."

"हाँ ।"

"यहाँ नज़दीक कोई बार होगा ?"

"सिविल लाइन्स की तरफ़ है ?"

"तो ऐसा करते हैं कि हम बाहर जाकर खा आते हैं अब यह लाने-लिवाने की झंझट कौन करे । क्यों डियर ।" उसके अपनी बीवी की तरफ़ देखते हुए कहा, "तब तक तुम हमारे नन्हें शाहज़ादे साहब को संभालो ।" जगत मुस्कराया तो उसकी बीवी भी मुस्करायी ।

विनय के चेहरे पर एक कृतज्ञता-भरी मुस्कान खेल गई । उसने कहा, "लाओ भाभी ।" और हाथ बढ़ाकर बच्चे को ले लिया । बच्चा एक क्षण को कुनमुनाया, फिर उसका मुँह देखने लगा ।

"तंग करे तो नौकर को थमा देना ।" कहता हुआ जगत निकल गया ।

इस बीच नौकरानी आकर खाने को पूछ गई थी । उसने कह दिया—"साहब लोगों को भूख लगी थी । इतनी देर इन्तज़ार करना मुश्किल था । बाहर खाना खाने गये हैं... हमारे लिए अभी बाद में ।" फिर उसने बच्चे को नौकरानी के हाथों में थमा दिया और "साहब लोग लौट आयें तो उनका खयाल रखना," यह कह, वह स्टेशन रवाना हो गया ।

डिब्बे से उतरते ही बेबी (बड़ी बहन) मुस्करायी थी । दोनों बच्चे सो गए

थे । गाड़ी लेट हो जाने की वजह से साढ़े ग्यारह बजे आयी थी । सुदेप को जगाया गया तो उसने अलसाये हुए, मामा को नमस्ते की थी और फिर उसकी पलकें झँपने लगी थी । बगले पर उतरे तो नौकर ने बताया, "एक शाब खाना खाकर सो गया है । दूसरा वाला अभी तक नही लौटा । उसका छोटा बाबा रो रहा है । मानता ही नही । अभी लाता हूँ ।

"यह क्या बक रहा है ?" बेबी को हँसी आ गई ।

"जगत और उसकी बीवी बाहर खाना खाने गये है, अभी न लौटे होंगे ।"

तभी नौकर बच्चे को ले आया—"अब चुप है शाब । अब सो जाएगा ।" उसने बच्चे को इस तरह देखा जैसे वह कोई बेजान-सी चीज हो ।

"तुम्हारे लिए उधर का कमरा है बेबी ।" उसने कहा और नौकर से होल्डाल उधर ले जाने को कह दिया ।

"क्या मेम शाब भी बाहर खाना खाएगा शाब ?"

बेबी को नौकर की इस बात पर हँसी आ गई लेकिन फिर तुरन्त जैसे उसने सारी स्थिति भाँप ली । बोली, "तुमने खा लिया बिन्नू ?"

उसने सिर हिला दिया, "नही ।"

"अच्छा तुम सुदेप, पप्पू को ले जाकर सुला दो । मैं देखती हूँ ।"

किचन मे बैठा वह बार-बार बाहर जगत की आहट ले रहा था । बीच-बीच मे बेबी की बातों के जवाब मे 'हाँ-हूँ' कर देता । किसी भी बात का सिल-सिला खत्म होने पर वह कहता—"अच्छा !" तो बेबी उसके इस अस्वाभाविक चौंकने पर उसे एकटक देखती रह जाती । बात क्या चौंकने की थी ? बहन की आँखो मे एक विस्मय-भरे दुःख का भाव घुल आता—अपने इस भाई के लिए। वह मुँह फेरकर पूरियाँ सेंकने लगती या नौकरानी को आवाज देती । छोकरी जब आती तो विनय की ओर देखकर आश्वस्त हो लेती, फिर बेबी की ओर देखती जाती और मुस्कराती जाती ।

"अच्छा कबूतरों का जोड़ा पाल रखा है ।" बेबी ने हँसते हुए कहा ।

"नौकर बदतमीज है, इसे बहुत पीटना है "

"अच्छा ! लगता तो नही ।"

"तुम लोग नए आये हो न ।"

"तुम उसे डाँट क्यो नही देते । यह बेचारी तो अच्छी-भली है ।"

बेबी, मुझे बार-बार लगता है कि जीवन मेरी मुट्ठियों से पानी की तरह
पल गया है।'

तो क्या सच में ऐसा है। उसे वह भी पत्र याद आया जो विनय ने अपनी
ी चित्रा को छोड़ते हुए लिखा था। जगत घर का सबसे बड़ा लड़का था।
कन वह शादी के लिए तैयार नहीं हो रहा था। विनय से पूछा गया तो उसने
ी भर दी। दद्दा ने उसी के द्वारा तो पुछवाया था। इस हामी भरने का भी
न और उसके साथियों ने कम मजाक नहीं बनाया था। लेकिन उन सारी बातों
तब भी उसके चेहरे पर कोई खास असर नहीं दीखा था। बेबी को अब लगता
विनय ने स्वीकृति इसलिए दे दी थी कि उससे स्वीकृति मांगी गई थी। 'लेकिन
े हमें कहाँ मालूम था कि इस तरह हमेशा के लिए हमें नरक में ढकेल दिया
यगा, 'उसने लिखा था,' बेबी, यह अकारण नहीं है कि इस तरह के जीवन से
सदा के लिए विदा ले रहा हूँ। इस सम्बन्ध में थोड़ी भी बहस बेकार है। यही
झ लो कि यदि हमारे भीतर आत्मा जैसी कोई वस्तु है (शरीर की तो बात
क्या) और यदि हमारे सम्बन्ध या हमारे अनाचार उस आत्मा पर भी खरोंच
ा सकते हैं, तो मेरी उस आत्मा में भी घाव हो गया है। बेबी, मुझे लगता है
' मैं लगातार एक खूखार और भयावने चेहरे से कभी छुटकारा नहीं पा सकूंगा...।'

बाहर, पोर्टिको में बच्चों की मिली-जुली आवाजें आ रही थीं। "वी विल्ली
नी रन्स थ्रू द टाउन"... उसने उठकर दरवाजा खोल दिया। रंग-बिरंगे सूट
बच्चों के सफेद मक्खन जैसे चेहरों पर बड़ी-बड़ी काली आँखें तस्वीर की तरह
मक रही थीं। उसने देखा, बच्चों के दो दल बन गए हैं। सुबोध के तीनों बच्चे
क कतार में खड़े हैं और जगत के तीनों बच्चे दूसरी कतार में। सुदेप और पप्पू
नमें नहीं थे। स्लीपिंग गाउन कसता हुआ वह बाहर निकल आया।...

...'वी विल्ली विंकी रन्स थ्रू द टाउन
अपस्टेयर्स एण्ड डाउनस्टेयर्स इन हर नाइट-गाउन,
पीपिंग थ्रू द विण्डो क्राइंग थ्रू द लॉक
आर ऑल द चिल्ड्रेन इन देयर बेड्स ?

इट्स पास्ट नाइन ओ' क्लॉक......

यह सुबोध की छोटी बच्ची गुड़िया थी। 'वी विल्ली... विकी...' उसने फिर वही 'राइम' दुहरानी चाही तो उसके बड़े भाई साहब ने शर्ट का कॉलर पकड़ के उसे चुप करा दिया। वह हाँफती हुई-सी भाई का मुँह ताकने लगी।

"यस बिगिन," भाई साहब ने दूसरी पार्टी को चुनौती दी।

अब विनय के बच्चों की बारी थी। उसके बड़े लड़के पिंकू ने एक बार अपनी छोटी बहन को इशारा किया तो वह रुआंसी हो आई। इस पर पिंकू साहब ने गुस्से में अपनी मुट्ठियाँ कसीं, होंठ काटे और शुरू कर दिया—

...दिस पिग वेण्ट टू द मार्केट
दिस पिग स्टेट एट होम,
दिस पिग हैड ए बिट ऑफ़ मीट
एण्ड दिस पिग हैड नन्।
दिस पिग सेड... 'वी वी वी।
आइ काण्ट फ़ाइण्ड माई वे होम।'......

"यू आर एब्यूजिंग अस," सुबोध के लड़के ने कहा।

इस पर अंगूठा दिखलाते हुए पिंकू ने फिर वही 'राइम' दुहरानी शुरू कर दी—'दिस पिग वेन्ट टू द मार्केट...

विनय को हँसी आ गई। पिंकू उसी तरह सुबोध के बच्चों को इशारे से 'दिस पिग... दिस पिग' गिनाता जा रहा था। उसने पास जाकर पिंकू को गोदी में उठा लिया और अपनी ओर इशारा करते हुए पूछा, "हाँ हाँ बताओ... दिस पिग? व्हेयर डिड ही गो?"

एकाएक सभी बच्चे जैसे सकते में आ गए। पिंकू गोदी से उतरने के लिए छटपटाने लगा। उसे हँसता हुआ देखकर सभी बच्चे सशंक नेत्रों से देखते हुए प्रतियोगिता से भागने की तैयारी करने लगे। उसने गुड़िया के गालोंपर एक ठुनकी जमाई और उसे भी उठाना चाहा तो वह रोने लगी। ड्राइंग रूम के दरवाज़े पर उसकी ममी खड़ी-खड़ी इधर ही देख रही थी। देखते ही तीनों बच्चे भागकर माँ के पास चले गए। पिंकू जिद में आ कर उसे नोचने लगा, तो उसने गोदी से उतार दिया। उसकी छोटी बहन भी रोने लगी थी। पिंकू गुस्से में आकर उसे घसीटने लगा। उसने नौकर को आवाज़ दी कि वह बच्ची को उठा ले जाए।

बाहर फिर सन्नाटा छा गया। ठण्डी हवा का सरसराता दबाव जैसे और अधिक बढ़ गया हो। उसे अजीब सी ग्लानि महसूस हुई। फिर जैसे सारी देह झनझना उठी। सारे बदन पर रोंगटे खड़े हो गए। सामने किचन से कुछ खटर-पटर की आवाज आ रही थी। बेबी, शायद सभी के लिए नाश्ता तैयार करने में लगी हो। कभी कभी पूरे वातावरण में नौकरों की आवाजें गूंजती हुई उठतीं और दूर-दूर लगने लगतीं। वह अपने कमरे में लौट आया। बाहर कोहरा धीरे-धीरे छंट रहा था लेकिन आसमान गाढ़े-गाढ़े बादलों से थम-सा गया था। हवा का तेज सरसराता हुआ झोंका आया तो खिड़की 'खटाक'-से बन्द हो गई। दूर बादलों की गम्भीर गड़गड़ाहट सुन पड़ रही थी।

बादलों की बात सोचकर मन फिर उदास हो गया। जगत बोर होगा। सुबोध भी। शायद बेबी भी घूमने-फिरने की बात मन में लेकर आई हो! खुला दिन होता तो कितना अच्छा होता! न भी होता, ये बदली ही होती, मगर वह अकेला होता, अगर इन सारे लोगों को बुलाया न होता! कितना इन्तजार था! किस तरह उसके भीतर एक लहर आयी थी और अब जैसे उस लहर के पीछे आने वाली सारी लहरें कहीं फिर शान्त हो गयी थीं। कितनी कल्पनाएँ सँजो रखी थी उसने! उन सबके आने की! कितने प्रोग्राम मन-ही-मन बना रखे थे ... संगम, रामबाग, किला, जमुना में बोटिंग, द्रौपदी घाट ... मैकफर्सन ...। लेकिन ... क्या यह सच है कि अकेला आदमी हमेशा अनिश्चित आशा या अनिश्चित निराशा में वास करता है? और जगत? तब के बोहेमियन और आज के जगत में कोई साम्य है? अब उसके तीन बच्चे कान्वेंट में पढ़ रहे हैं। इसके साथ ही कितनी तस्वीरें एक साथ उभर आती हैं। जगत की, सुबोध की, बेबी की और उनके ढेर सारे बच्चों की। ... जगत के बाल कालेज के जमाने में ही सफेद होने लगे थे। और सुबोध? उसके बाल बहुत टूटते। सुबह जब नौकर कमरे में झाड़ू देने आता तो बाल-ही-बाल। पिछले आठ सालों में उससे केवल एक बार ही भेंट हुई थी। जब उसने मिलिट्री कैप उतारी थी तो वह देखता रह गया था। कितना बुजुर्ग लगता था वह गंजा हो जाने की वजह से। ... जिस साल जगत ने घर से अलग हो कर शादी कर ली थी, उसी साल सुबोध की भी कर दी गयी थी। उस अवसर पर भी वह पहुँच नहीं सका था। बधाई का तार दद्दा के हाथों में पड़ा था। बेबी ने लिखा था, 'दद्दा ने तार चीथकर फेंक दिया। और

फेंक न देते तो क्या करते। एक की वजह से सभी पराये थोड़े ही हो जाते हैं। एक हो, जिसे कुछ भी समझाया नहीं जा सकता। दद्दा कभी-कभी पागल-से हो उठते हैं, तुम्हारे लिए। इतना परायापन क्यों दिखलाते हो बिन्नू.. ?'

आज भी बेबी का खत उसे याद है। जवाब उसने नहीं दिया था। लेकिन बेबी लिखती रही। इन सारे वर्षों में वही एक लगातार लिखती रही। उसके पत्र जैसे किसी हम-उम्र दुनिया की गुञ्जन-भरी धीमी आवाज़ें थीं। जो कुछ उसके बाहर घट रहा था, होता चल रहा था, उसकी सूचना देते थे बेबी के पत्र। उन सूचनाओं के बारे में उसे एकाएक पहले विश्वास नहीं होता था। 'अरे यह हो गया ! अब यह भी हो गया ! चित्रा मायके वालों से भी झगड़ के चली गयी। उसने इस्तीफ़ा दे दिया। वह कलकत्ते में नौकरी कर रही है...जगत के लड़के की सालगिरह है...।' लेकिन कुछ दिनों के बाद वह हर नई सूचना से आश्वस्त हो आता—'ठीक है, यह भी हो गया। चलो, माँ भी चल बसीं। दादी को गठिया से छुटकारा तो मिला ..।' इसी तरह जब बेबी ने जीजाजी के एक्सीडेण्ट वाली बात लिखी, तो भी वह खत रखकर ग़ुस्ल के लिए चला गया था। बनारस पहुँचने पर भी उसके मुँह से सांत्वना का एक शब्द नहीं निकला था। रात रो केवल उसने इतना ही कहा था, "बेबी, तुम्हें रामकृष्ण वचनामृत से कुछ सुनाऊँ ? लेता आया हूँ।" बहन इस 'रामकृष्ण वचनामृत के लेते आने' पर आश्चर्य से उसका मुँह ताकती रह गई थी।

सभी बिखर गए थे। पूरी उनकी एक अपनी दुनिया थी, जो न जाने कहाँ छिटक कर खो गई थी। केवल उन सब को बटोर कर रख देते थे बेबी के खत। धीरे-धीरे उसे यह भी महसूस होने लगा कि बेबी के ख़त न आने पर वह अपने को बेचैन और असुरक्षित-सा पाता है। तो क्या उस खोई हुई दुनिया के प्रति मन में कहीं इतना गहरा लगाव था। इस बात से उसे हल्की-सी राहत भी महसूस होती। उसके एक कुलीग के बारे में ऑफ़िस में यह मशहूर था कि दुनिया में उसका अपना-पराया (उसमें यह 'पराया' शब्द भी जोड़ दिया जाता) कोई नहीं है। उसका वह 'कुलीग' इस बात से ज़रा भी दु:खी नहीं होता था। वह अपने को कर्मयोगी कहता और बच्चों की तरह हँसने लगता। दूसरा का यह भी ख़याल था कि वह कर्मयोगी पागलखाने जाने की तैयारी में है और वहीं अपने कर्मयोगी का जादू दिखलाएगा।...ऑफ़िस के इस मज़ाक़ पर वह चुपचाप नीचे उतर आता।

पोस्टकार्ड लेता और खड़े-खड़े लिखकर बेबी को डाल देता। फिर वह अन्दाज लगाता कि कितने दिनों में उसका जवाब आ जाएगा।.. जैसे इस भयावने अन्धकार में उसके चारों तरफ एक घटाटोप था, जगन का, सुबोध का, बेबी का, दद्दा का। न महसूस करते हुए भी इस घटाटोप से छिन्न-भिन्न हो जाने और सीली, वीरान रोशनी में अपने को चोंधियाते हुए पाने की कल्पना से ही वह सिहर उठता

लेकिन क्या इस आन्तरिक बन्धन को कोई भी समझता है! दूसरे तो दूसरे खुद बेबी ने एक बार उसे स्वार्थी, निर्दयी, आत्मरत की पदवी दे डाली थी। लेकिन उसके बावजूद भी क्या यह सम्भव था कि वह जो नहीं था, उस तरह अभिनय करता? तो फिर? वह दूसरों पर नासमझी थोपने के बजाय चुप रह जाता।.. कालेज के जमाने से भी वह इसी तरह घुन्ना प्रसिद्ध था। सुबोध उससे साल-भर छोटा होते हुए भी बड़ा लगता। दोनों एक-दूसरे का नाम लेकर पुकारते थे। उसकी छाती, पैरों और बाँहों पर घने काले बाल बी० ए० में ही उग आए थे। दाढ़ी-मूछें भी आने लगी थी, जिसके लिए अक्सर वह कैंची इस्तेमाल करता था। सुबोध डैडी पर पड़ा था। डैडी की धुंधली-सी याद उसके चेहरे से इतनी साफ झलकती कि 'वही बड़ा है' यह अहसास और भी घर कर जाता। और सुबोध इस तरह 'एक्ट' भी करता था। डाइनिंग-हाल की टेबिल पर हमेशा आस्तीनें चढ़ाकर खाना खाने बैठता और बड़े भाई को रौब से घूर कर देखता। हमेशा टिपटॉप रहता और उसे जेब-खर्च तक के पैसे देता। ..यह सब उसे कभी भी बुरा नहीं लगा था। और तो और, क्या जगन का व्यवहार उसे कभी खलता था? बेबी, घूमने जाते वक्त, बहुधा जगन के व्यवहार से रास्ते-भर चिढ़ती रहती। जब असह्य हो जाता तो आखिर बोल ही पड़ती, "जगत, प्लीज़ हैव डिसेन्सी। क्या कहेंगे लोग रास्ते में 'च्वा च्वा च्वा च्वा' और 'राक्-राक्' देखकर।"

जगन इस पर जोर से ठहाका लगाकर हँस पड़ता, "डोण्ट यू नो बेबी! आइ, रीयली इन्हेरिट द डिसेन्सी ऑफ़ योर ग्रेट ग्राण्डफादर...कुंवाई ..श्री राय बहादुर..."

विनय को जगत के इस जवाब देने और हँसने की मुद्रा से बहुत डर लगता। कहीं ये सब झगड़ न पड़ें। जगत ऐसे मौक़ों पर कितना खूंखार लगता। वह धीरे से बहन से कहता, "लेट हिम टॉक लाइक दैट बेबी, लेट अस इन्ज्वाय।"

"यू.. यू...यू पुअर ओल्ड मैग.. कैन यू इन्ज्वाय ?...अमेज़िंग.. हा हा हा हा.. " जगत उनकी ओर घूर कर देखता तो वह सिटपिटा कर कातर आँखों से बहन को देखने लगता।

वेवी को उस पर गुस्सा आ जाता। वह सुवोध से कहती, "मैं और विन्नू जा रहे हैं।"

लेकिन जगत पर उनका कोई भी असर न होता। उन्हें दूसरी ओर जाते देख-कर वह कहता, "टा टा माई डियर, ओल्ड सिस्टर ! यू नो...'माई हार्ट नेवर एक्स'...'आई नेवर फील ग्राउजी'.. 'नो नम्बनेस'...।" हा हा.. वह विनय की ओर उंगली उठा-कर कहता, "टा टा यू वेजिटेरियन सेटन !"

•

पिछले पांच दिनों से लगातार झड़ी लगी हुई थी। कभी हलकी फ़ुहार, कभी रिमझिम और कभी तेज धारोधार वर्फानी वारिश। पिछले पाँच दिनों से आस-मान नहीं दीखा था। पेड़ और मैदान और आस-पास के सभी वंगले जैसे ठिठुर कर सुन्न पड़ गए थे। रह-रह कर तूफ़ानी हवा का दौर शुरू हो जाता। ऐसी तेज़ हवा में वारिश सफ़ेद धुएँ की तरह उड़ती हुई लगती। फिर रात के अन्धकार में वादलों की घुमड़न और अचानक तड़पती हुई विजली के चौंधियाते आलोक में वर्षा का स्वर ..झाँय-झाँय, झम्प-झम्प . झाँय-झाँय एक लगातार वदलती हुई, काँपती हुई...थरथराती हुई लय कभी टूट-टूट जाती...फिर तेज़-तेज़ गिरने लगती।

सभी चुप थे। वच्चे ठिठुरते हुए कभी इस कमरे से उस कमरे की ओर दौड़ते हुए नज़र आते। नौकर सिकुड़ा हुआ साहव लोगों की आवाज़ पर इधर-उधर भागा फिर रहा था। तक़रीवन सभी कमरों की सीलिंग के कपड़े में पानी के भद्दे दाग़ उभर आए थे। ड्राइंग-रूम में दो-तीन जगह वर्तन रख दिए गए थे, जिससे टपकता हुआ पानी फैले नहीं। वेवी दिन में तीन-तीन चार-चार दफ़ा सभी कमरों में धूपवत्तियाँ जलाती। फिर भी सीलन और ठण्ड की अजीव-सी वू हर जगह वनी हुई थी। ड्राइंग-रूम में एक दहकती अँगीठी हर समय रखी रहती। सुवोध, जगत और दद्दा खाना खाने के वाद वहाँ वैठे-वैठे वातें करते रहते। वेवी भी शामिल हो जाती। वहुधा जगत की ही आवाज़ सुनायी देती। वह दद्दा की पेन्शन

से लेकर अपनी वन-विभाग की नौकरी और तत्कालीन राजनीति तक के बारे में समान रूप से बातें करता। नेताओं को निकम्मा करार देता और जनता को कायर।...'इस देश में कभी कोई क्रांति नहीं हो सकती। धर्म को उखाड़ फेंको, सबको बेकार कर दो, लोगों के मुंह से उनकी रोटियाँ छीन लो, उन्हें कोड़े लगाओ, इज्जत लूट लो... चाहे कुछ भी करो, यहाँ के लोग इतने ठण्डे और स्वार्थी हैं कि ईश्वर और भाग्य की दुहाई देकर फिर भी सन्तोष कर लेंगे। यहाँ किसी को किसी से मतलब नहीं है। न यह देश समूह में विश्वास करता है, न व्यक्ति में।... इसीलिए यहाँ सब कुछ आसान है ..' दद्दा जी, इस मुल्क में कोई भी आदमी, जो थोड़ा चालू हो, अपने को दूसरों से भिन्न समझता हो, और डींगें हाँकने में माहिर हो—नेता बन सकता है..।"...फिर सुबोध और जगन के बहस का यह दौर घंटों चलता। और चलते-चलते एकाएक रुक जाता। फिर पता नहीं कैसे और क्यों धीमे-धीमे बातें होने लगतीं। दद्दा के नथुनों की गुड़गुड़ाहट के बीच कभी कभी कुछ शब्द तैरते हुए सुनाई पड़ते..."चिन्नू?.. ना.. आज तक एक पैसा भी नहीं" यह दद्दा होते।..."बेचारा!.. क्यों आप लोग..." यह बेबी होती।... "महात्मा विनयकुमार!..." और फिर हँसी का एक ठहाका, जगन का।.. बहस के दौरान जब कभी वह ड्राइंग-रूम में प्रवेश करता, सभी सकते में आ जाते। जगन सिगार में मुँह में दबाये उठ जाता। सुबोध आराम-कुर्सी में ढीला हो रहता। बेबी अंगीठी देखने लगती और दद्दा तेजी से अपनी गुड़गुड़ी खींचने लगते। सभी बात का कोई सिलसिला खोजते हुए उस ओर से विमुख हो जाते...।

इसी तरह साँझ आ जाती। बेबी किचन में रहती। सुबोध और दद्दा आग के पास बैठे घर-परिवार के बारे में बातें करते। बच्चे कभी-कभी उसके कमरे की खिड़की से झाँकते और फिर हँसते। वह उठकर बैठ जाता और पुकारते हुए उन्हें बुलाने लगता। उसकी पुचकार सुनते ही बच्चे भाग खड़े होते। ऐसे ही में एक दिन सुबोध के लड़के ने पूछा, "मम्मी, क्या बड़े चाचाजी डाकू हैं?"

"क्यों?"

"उनकी कितनी बड़ी मूँछें हैं!"

इस पर उसकी मम्मी हँसने लगी थी। लेकिन सुबोध ने लड़के को एक तमाचा जड़ दिया था। इस घटना के बाद बच्चों ने एक तरह से उसकी खिड़की पर जाना भी छोड़ दिया था।

जगत ओवरकोट के ऊपर बरसाती चढ़ाता। छाता लेता और साँझ होते ही बाहर निकल जाता। फिर वह दस के बाद नशे में धुत लौटता। रिक्शे में से उतर कर बहुधा वह कोई हल्की-सी फ़िल्मी ट्यून गुनगुनाता या पश्चिमी रिकार्डों की नक़ल पर सीटी बजाता हुआ पोर्टिको की सीढ़ियाँ चढ़ता। फिर उसकी आवाज़ सुनाई देती, "मेरी जान, दरवाज़ा खोलो।" और दरवाज़ा खुलते ही फिर एक बार वही वाक्य—"मेरी जाऽऽन", लेकिन बिलकुल दूसरे ही लहजे में। उसकी बीवी चौंककर दो क़दम पीछे हट जाती और फिर दरवाज़ा बन्द होने की तेज़ आवाज़ सुनायी पड़ती—खटाक्।

सिवा बेबी के इन पिछले पांच दिनों में कोई भी उसके कमरे में नहीं आया था। सुबह दद्दा और सुबोध बरामदे में चहलक़दमी करते, तो उसे लगता कि उनमें से कोई-न-कोई ज़रूर दरवाज़ा खटखटाएगा। ऐसे में उससे कुछ भी पढ़ा नहीं जाता। किताब खोले वह धड़कते दिल से क़दमों की आहट भाँपता रहता। बेबी कभी-कभार दोपहर में या नहीं तो रात को दूध पहुँचाने आती तो चन्द मिनटों के लिए पलंग की पाटी पर बैठ जाती... कुछ इस तरह जैसे अभी किसी ज़रूरी काम से उठकर चले जाना हो। वह कुर्सी की ओर इशारा करता तो वह मुस्करा देती— "ठीक है।"

"क्या कर रही थीं?" वह पूछता।

"किचन में थी।"

"सब लोगों ने ठीक से खा-पी लिया?"

"हाँ।"

"ठीक से बैठो न।"

"पप्पू को सुलाना है।"

"तो यहीं ले आओ उसे।"

इस पर वह भाई का मुँह ताकती। फिर नौकर को आवाज़ देती।

पप्पू सो जाता तो वह कहता, "यहीं लिटा दो, हाथ दुख रहे होंगे।"

"बिस्तर खराब कर देगा।"

"तो क्या हुआ! लाओ।" फिर वह ज़िद करके बच्चे को बिस्तर पर लिटा देता और उसे देखकर मुस्कराता रहता। बहन चुपचाप उसे देखती रहती। फिर एक सन्नाटा छाया रहता।

"बेबी, सुबोध कैसा है ?" वह उसी तरह बच्चे की ओर देखता हुआ पूछता।
"क्या तुमसे बात नहीं हुई," वह पूछना चाहती, लेकिन फिर चुप रह जाती। कहती, "ठीक है, है, अगले साल तक मेजर हो जाने की उम्मीद करता है।"
"उसे देख के पापा की याद आती है।" वह सिर झुकाए हुए कहता, "आती है न ?"
बहन होंठ काटती चुप रहती।
"बेबी, मुझे डर लगता है कि..."
बहन उसके चेहरे पर आँखें गड़ा देती।
"पापा की तरह कहीं उसके साथ भी कोई दुर्घटना.. "
बहन उठके चली जाती।

और यह छठा दिन था। बाहर बारिश का स्वर सुनायी पड़ रहा था। लैम्प-पोस्ट पर बूँदों की झालर-सी बुन रही थी। जगत अभी लौटा नहीं था। लिहाफ़ में पड़ा हुआ वह बेबी के आने का इन्तज़ार कर रहा था। दरवाज़ा खटका तो उसने कह दिया, "आ जाओ।"
"दूध ले लीजिए।" यह सुबोध की बीवी थी।
वह उठकर बैठ गया। "आप ? आपने क्यों तकलीफ़ की ?...बेबी कहाँ है ?"
"पप्पू को सुला रही है।"
"अच्छा, वहाँ तिपाई पर रख दीजिए।"
फिर वह लेट गया। एकाएक उसे चित्रा की याद हो आई। इधर सालों से किसी ने उसका ज़िक्र तक नहीं चलाया था। सब लोग उसकी ज़िन्दगी से परिचित हो गए थे। पहले कोई पूछता, 'पत्नी कहाँ हैं ?' तो वह एकदम ठण्डा पड़ जाता। पत्नी !...कौन ?...चित्रा ?...वह चुपचाप टाल जाता...। बात बदल देता। लेकिन इस तरह बहुधा मशीन की तरह उसका दिमाग़ काम करने लगता...। इधर बहुधा उसकी याद आ जाती। इस याद से उसके अन्दर एक अजीब-सी गर्मी का संचार होने लगता। उसके अंग-अंग फड़कने लगते और देह बरबस कुछ

मांगने लगती। उसे लगता कि देह की यह मांग पूरी हो जाए तो उसके तुरन्त बाद ही उसे चित्रा की इस याद से भी ग्लानि और नफ़रत हो जाएगी। लेकिन फिर उसकी याद की यह गरमाहट उसके मन में एक तूफ़ान की तरह उठकर उसे बेचैन कर देती...। कहां होगी चित्रा ? उसके दिमाग़ को एक झटका-सा लगा। क्या इनमें से किसी को भी नहीं मालूम ? क्या बेबी को भी नहीं मालूम ? क्या वह पूछे ? उसे क्या हक़ है ? क्या इन नौ-दस वर्षों में उसने उसकी खबर ली थी ? अन्दाज़ा-सा रहा कि वह पटने या कलकत्ते में कहीं है। क्या वह इतना भी जानने से कतराता नहीं था ? फिर ? उसने स्मृति में चित्रा की एक छाया लाने की कोशिश की तो उसके दिमाग़ में सड़क पर लचक कर चलती हुई एक काल्पनिक स्त्री की तस्वीर-सी आई। वह स्त्री कोई भी हो सकती थी। चित्रा का चेहरा उसकी याददाश्त में इतना धुंधला पड़ गया था ! उस चेहरे की कल्पना भी असम्भव-सी लगी। लेकिन उसके अंगों की सुडौल रेखाओं की परछाई का हू-ब-हू आभास भी सुधांशु की बीवी से मिला था ··?

उसने उठकर अलमारी से 'रामकृष्ण-वचनामृत' निकाल लिया और उलटने-पुलटने लगा। शायद बेबी आये। उसने दरवाज़ा खोल दिया। बारिश कुछ थम-सी चली थी और तीखी, बदन चीरती हुई हवा में ताड़ के पत्ते खड़खड़ा रहे थे।

"कहिए योगीराज, कौन-सी साधना चल रही है ?" जगत ने कमरे में एका-एक प्रवेश किया।

उसके इस तरह अचानक चले आने पर वह थोड़ा-सा अचकचा गया। फिर बात उसकी समझ में आ गई। वह जगत को चुपचाप देखता रहा।

जगत ने बरसाती उतार कर कोने में डाल दी। छाता फ़र्श पर लिटा दिया। फिर वह बैठकर बूटों के तस्मे खोलने लगा। "मैंने देखा, अभी आप जगे हैं। सोचा, दर्शन करता चलूं।" उसने मुस्कराते हुए कहा।

"......"

"किस पुस्तक का पाठ चल रहा है ?" उसने ओवर-कोट की जेब से 'ब्लैक-नाइट' की निप निकाल कर मेज़ पर रख दी। "आचमनी तो आपके पास होगी ही..." उसकी नज़रें इधर-उधर गिलास ढूंढ़ रही थीं। होंठों के कोनों में सफ़ेद झाग इकट्ठा हो गई थी। थुलथुले गाल लटक आये थे। चुंधी-चुंधी आँखें रोशनी में डबडबा रही थीं और गरदन ढीली हो रही थी।

"इसमें क्या है ?" उसने उठाकर तिपाई से गिलास उठा लिया, "सोडा ? . हम सोडा क्या करेंगे ?" उसने खड़े-खड़े दूध दरवाज़े के बाहर फेंक दिया। फिर इत्मीनान से कुर्सी पर बैठकर गिलास में शराब डालने लगा।

अजीब-सी पसोपेश में पड़ गया वह। क्या करे ? शायद बहन आ जाए। या वह जगत से चले जाने को कहे ? या खुद बाहर निकल जाए।

"कहिए, कैसी चल रही है ?" जगत ने पूछा। वह घूंट भरता और फिर होठों पर जीभ फिराने लगता।

"ठीक हूँ।"

"ये टीक-वीक क्या होता है जी ?"

इस पर वह कोई जवाब न देकर मुस्कराया।

"चलेगी ?" जगत ने गिलास की ओर इशारा किया।

"मैं नहीं लेता।" वह समझ रहा था कि ज्यादा कुछ भी कहना फिज़ूल है।

"बाहर क्या देख रहे हो ? कोई आने वाली है क्या ?" उसने बाहर झाका ..."ओह, उधर से " उसने नौकरों के क्वार्टर की तरफ इशारा किया—"वह छोकरी . काबिले-तारीफ है।"

"भाई साहब !" उसके चेहरे पर हल्का-सा आवेश उभरा। ..

"भाई साहब ! भाई साहब क्या ! क्या मैं भूठ कर रहा हूँ ? बीवी भी नहीं शराब भी नहीं फिर भाई साहब क्या ? और नहीं तो.. क्या...डू यू कोहेबिट विद योरसेल्फ ? बोलो ? नहीं तो ? मैं कभी झूठ नहीं बोलता।... सब सच कहता हूँ। नहीं कहता ? बोलो ? . मैं झूठा ?" उसने घूर कर देखा, "बोलो ?"

"....."

"तुम झूठे हो," उसने मेज पर जोर से मुक्का मारा। तुमने अपने दादाजान से क्या सीखा ? उनके कितने नाजायज बच्चे हुए जवानी मे ?.. तुम्हें पता है ?" वह उठकर खड़ा हो गया, "आज आराम से पेन्शन उड़ा रहे हैं और हुक्का गुड़-गुड़ा रहे हैं। और साले हमें उपदेश देते हैं।" वह बाहर की ओर देखते हुए फिर गिलास भरने लगा।

"आई लव यू रियली . क्या तुम्हें यकीन नहीं आता ?" वह अपना चेहरा एकदम पास ले आया, "बट यू हैव इनहेरिटेड नथिंग फ्राम योर फोरफादर्स...।
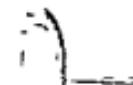
[illegible]," उसने पाँचों उँगलियाँ खोलकर दिखायीं, "नहीं...पाँच दर्जन पहाड़ी छोकरियों को...फ़ॉरेस्ट डिपार्टमेण्ट में यही तो आराम है...।" ...यह फ़िशी फ़ार यू..., यू हैव इनहेरिटेड नथिंग.. तुम.. क्या तुम दोग़ले नहीं हो ? वह फिर उठकर खड़ा हो गया, "हाँ.. हाँ...हाँ हज़ार बार हाँ.. यू आर ए बास्टर्ड...यू हैव इनहेरिटेड नथिंग...आई से... ।" उसने शराब की बोतल ज़ोर से मेज़ पर दे मारी । बोतल टूट गई और मेज़ पर बहती हुई शराब फ़र्श पर फैल गई ।...

शोर सुनकर बेबी आ गई और यह सब देखकर दंग रह गई । जगत उसी तरह चिल्लाये जा रहा था, "तुम इस दुनिया में रहने के क़ाबिल नहीं हो । चित्रा ने तुम्हें गोली क्यों नहीं मार दी...दोग़ले...बास्टर्ड साले ..'रामकृष्ण-वचनामृत' का पाठ कर रहे हैं ।..."बेबी उसे पकड़ कर कमरे के बाहर ले गई । आवाज़ से उसकी बीवी बाहर निकल आयी थी ।

"इन्हें संभालो भाभी !" बेबी ने कहा ।

प्लेटफ़ार्म के वाहर तेज़ वर्षा और तूफ़ानी हवा का दौर फिर शुरू हो गया था । टिन की शेड पर वूंदों की आवाज़ इतनी तेज़ होती कि कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता । इक्के-दुक्के मुसाफ़िर कम्पार्टमेण्ट में वैठे शीशे के पीछे से मूर्तियों की तरह लगते । सारी गाड़ी एकदम मुर्दा-सी लगती । वाहर, दूसरे प्लेटफ़ार्म के पार टनेल में मालगाड़ी के दो-तीन डिव्वे अनवरत भीग रहे थे और ओवरब्रिज के लौह-कंकाल पर वौछार का तेज़-तेज़ स्वर सुनायी पड़ रहा था । काले-काले लवादे पहने दो-एक टिकट-चेकर और गॉर्ड गाड़ी खुलने का इन्तज़ार कर रहे थे ।

उस रात वाली घटना के दूसरे ही दिन सुवह जगत चला गया था । वेवी और सुवोध उसे छोड़ने गये थे । जाने के पहले उससे कोई वात नहीं हो पाई । विनय के मन में एक वार आया कि वह चलकर कह दे, "भाई साहव, रात नशे में कही हुई वातों को मन में न लाइएगा ।" लेकिन यह तो जगत को कहना चाहिए था क्या हुआ वह उम्र में वड़ा है तो ।... लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ । जाते वक़्त उसके वच्चे संशंक आँखों से वँगले की ओर ताक रहे थे । वह कमरे में जड़

मैंने कम-से कम पाँच," उसने पाँचों उँगलियाँ खोलकर दिखायीं, "नहीं...पाँच दर्जन पहाड़ी छोकरियों को...फ़ॉरेस्ट डिपार्टमेण्ट में यही तो आराम है... ।" ...बट पिटी फ़ार यू..., यू हैव इनहेरिटेड नथिंग.. तुम.. क्या तुम दोग़ले नहीं हो ? वह फिर उठकर खड़ा हो गया, "हो...हो...हो . हज़ार बार हो.. यू आर ए बास्टर्ड...यू हैव इनहेरिटेड नथिंग...आई से... ।" उसने शराब की वोतल ज़ोर से मेज़ पर दे मारी । बोतल टूट गई और मेज़ पर वहती हुई शराब फ़र्श पर फैल गई ।...

शोर सुनकर वेवी आ गई और यह सब देखकर दंग रह गई । जगत उसी तरह चिल्लाये जा रहा था, "तुम इस दुनिया में रहने के क़ाविल नहीं हो । चित्रा ने तुम्हें गोली क्यों नहीं मार दी.. दोग़ले...वास्टर्ड साले...'रामकृष्ण-वचनामृत' का पाठ कर रहे हैं ।..."वेवी उसे पकड़ कर कमरे के वाहर ले गई । आवाज़ से उसकी वीवी वाहर निकल आयी थी ।

"इन्हें संभालो भाभी !" वेवी ने कहा ।

प्लेटफ़ार्म के वाहर तेज़ वर्षा और तूफ़ानी हवा का दौर फिर शुरू हो गया था । टिन की शेड पर वूंदों की आवाज इतनी तेज़ होती कि कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता । इक्के-दुक्के मुसाफ़िर कम्पार्टमेण्ट में वैठे शीशे के पीछे से मूर्तियों की तरह लगते । सारी गाड़ी एकदम मुर्दा-सी लगती । वाहर, दूसरे प्लेटफ़ार्म के पार टनेल में मालगाड़ी के दो-तीन डिव्वे अनवरत भीग रहे थे और ओवरव्रिज के लौह-कंकाल पर वौछार का तेज़-तेज स्वर सुनायी पड़ रहा था । काले-काले लवादे पहने दो-एक टिकट-चेकर और गॉर्ड गाड़ी खुलने का इन्तज़ार कर रहे थे ।

उस रात वाली घटना के दूसरे ही दिन सुवह जगत चला गया था । वेवी और सुवोध उसे छोड़ने गये थे । जाने के पहले उससे कोई वात नहीं हो पाई । विनय के मन में एक वार आया कि वह चलकर कह दे, "भाई साहव, रात नशे में कही हुई वातों को मन में न लाइएगा ।" लेकिन यह तो जगत को कहना चाहिए था क्या हुआ वह उम्र में वड़ा है तो ।... लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ । जाते वक़्त उसके वच्चे संशंक आँखों से वँगले की ओर ताक रहे थे । वह कमरे में जड़

बना बैठा रहा।... फिर उसके दूसरे दिन सुबोध ने भी जाने का प्रोग्राम चुपके-चुपके बना लिया। सामान पैक करने के बाद उसने बेबी से कहलवाया था। न कहने पर भी वह छोटे भाई को छोड़ने स्टेशन चला गया था। स्टेशन पर सुबोध ने उसके हाथ में बिना कुछ कहे एक लिफाफा पकड़ा दिया था। उसके बीवी-बच्चे बिल्कुल दूसरे सिरे पर बैठे हुए थे और दूसरी ओर के प्लेटफार्म को देख रहे थे। सुबोध खिड़की के पास बैठा हुआ चुपचाप प्लेटफार्म की भीड़ ताक रहा था। विनय कभी छोटे भाई को देखता और कभी उसके दिये हुए लिफाफे को। गाड़ी चल पड़ी तो सुबोध ने उसे एक भावहीन 'नमस्ते' की थी। उस ओर से उसकी बीवी के जुड़े हुए हाथ दीख रहे थे। फिर उसके बड़े लड़के की आवाज़ सुन पड़ी, "चाचा जी टा टा .. टा .. टा .. टा . टा ।" फिर बच्चा जैसे कर्तव्य से मुक्ति पाकर फौरन दूसरी ओर के छूटते हुए प्लेटफार्म को देखने लगा था। . लौटते वक्त फिर भी वह राहत महसूस कर रहा था। लिफाफे में ज़रूर सुबोध का कोई सलाह-भरा खत होगा। क्या लिखा होगा उसने ? क्या जगन के झगड़े के बारे में ? या सभी लोगों द्वारा लिए गए किसी निर्णय की सूचना होगी ? अथवा चित्रा के बारे में ?...

रिक्शे से उतर कर वह सीधे बेबी के कमरे में गया था। लिफाफा पकड़ाते हुए उसने कहा, "सुबोध ने दिया है। तुम खोल कर देखो, मैं अभी आया।"

"क्या है ?" लौटकर उसने पूछा।

"बदतमीज कहीं का।" बहन के मुंह से निकला और उसने लिफाफा उसे पकड़ा दिया।

उसने निकाल कर देखा। अन्दर १२५ रु० का एक बेयरर चेक था, उसके नाम।

"तुमने उसके मुंह पर क्यों नहीं दे मारा।'

"मैंने समझा था, कोई खत होगा।"

और आज जब बहन ने भी जाने की इच्छा व्यक्त की, तो वह सन्न रह गया। उसका खयाल था, बहन एकाध महीने रहेगी। लेकिन .. उसने कुछ नहीं कहा। सामान बंध गया तो उसने कहा, "क्या आज ही जाना ज़रूरी है बेबी, कितनी खराब रात है।" बाहर सांय-सांय हवा चल रही थी।

"सुबेद की पढ़ाई का हर्ज हो रहा है। आज एक हफ्ते से ऊपर हो गया, उसकी गैरहाज़िरी को।"

इस पर वह कुछ नहीं बोला था।

"ओर घर पर भी तो कोई नहीं है। नौकरों के भरोसे कब तक छोड़ रखूं।" बहन ने जैसे फिर सफाई दी।

बहन के हाथ खिड़की से बाहर भटके हुए थे। उसके भी हाथों पर उसी तरह मोटी-मोटी नसें निकल आयी थीं—उसने लक्ष्य किया। उसके चेहरे के अन्दर एक सहमी उदासी थी, जो सहसा खाली वक्त में गलकर सामने आ जाती थी। अन्यथा वह हमेशा बातें ही सुनाए जाती।

"इतनी बारिश में कैसे लौटोगे तुम?" उसने कहा।

"चला जाऊँगा। दो बजे तक घर पहुंच जाऊँगा।" उसने घड़ी देखी—एक-पैंतीस।

गाड़ी छूटने में दस मिनट बाकी थे। बेबी पप्पू को सुलाने लगी तो वह प्लेट-फ़ार्म पर टहलता हुआ थोड़ी दूर निकल गया। हवा से बारिश की बौछार अन्दर तक चली आती। दीवारों और खम्भों पर लगे हुए पोस्टरों के चेहरे और इबारतें भी जैसे ठिठुर रही थीं। एक पोस्टर यों ठिठुर रहा था – 'नियोजित परिवारः सुख का आधार।' फिर 'विज़िट-इण्डिया' के नाम पर सांची का स्तूप, खजुराहो की यक्षिणियां, शिमले की बर्फ़ीली चोटियां, पुरी का समुद्र तट और केरल के खजूरों के झुरमुट ठिठुर रहे थे। सदर फाटक के ऊपर एक बहुत बड़ा ज्योतिषी और हस्तरेखाविद् इन शब्दों को मुट्ठियों में जकड़े हुए कांप रहा था : 'श्री .. सिंह। भारतवर्ष के महान हस्तरेखा विद्। अपने भूत, वर्तमान और भविष्य का कच्चा चिट्ठा खुलवाइए।'

"बिन्नू !" बहन ने ज़ोर से आवाज़ लगाई।

गार्ड लगातार हरी रोशनी पीछे की ओर हिला रहा था।

वह खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया।

"तुमसे एक बात कहनी थी।" बहन ने अगल-बग़ल रहस्यात्मक ढंग से देखा।

वह सिर्फ चुपचाप बहन के चेहरे को देखता रहा।

"चित्रा...अब," वह फफक पड़ी।

गाड़ी छूटने वाली थी। बहन ने जल्दी से आँसू पोंछ लिये। वह वैसे ही खड़ा था।

"कहने तो यही हैं कि आत्महत्या की थी . लेकिन..."

ऊपर से नीचे तक उसका सारा बदन सुन्न पड़ गया। गाड़ी हलके-हलके रुक रही थी। बहन ने खिड़की पर से उसका हाथ परे ठेल दिया। वह उसे खती हुई रोती जा रही थी और वह अपनी जगह पर खड़ा उसे देख रहा था। ..फिर जैसे वह होश में आया कि बहन को विदा देनी चाहिए। उसके हाथ ऊपर उठे तो बहन के चेहरे पर एक हँसी की रेखा झिलमिला आयी, फिर उसने हाथ उठा दिए। क्षण भर में ही ट्रेन बारिश की सफेद भाप में गुम हो गई।

तूफानी हवा सड़क के पेड़ों को मरोड़ रही थी। बारिश में कहीं कुछ भी साफ नजर नहीं आ रहा था। चेहरे पर तेज़ बौछार छोटी-छोटी ककड़ियों की तरह चुभती और किसी तरह बचाव करना मुश्किल था। सामने तांगा-स्टैण्ड के शेड में चार-पांच पिल्ले एक-दूसरे में गुथे हुए भीग रहे थे और किकिया रहे थे। कहीं कोई सवारी नहीं दीख रही थी। सड़क पर सिन्धियों के होटल बन्द हो गए थे। बरसाती के बावजूद गले से पानी अन्दर की ओर रिस रहा था जैसे कटार की तेज धार धीरे-धीरे अन्दर सरक रही हो। सड़क पर पानी की धार बह रही थी और नालियों में गल-गल करता हुआ वर्षा-जल सारी आवाजों को समेटे ले रहा था।

...आँखों के सामने वही सुडौल-सी परछाई उभर आई और फिर एक खिल-खिलाहट की गूंज, जिसके स्वर के अनुरूप स्वर बहुधा उसे जड़ कर देता।... चित्रा...।

उसने चिल्लाकर बहन से पूछना चाहा था, आत्महत्या ?...कब ? कहाँ ? कैसे ? लेकिन तभी गाड़ी उस भयावनी, अंधेरी बारिश में गुम हो गई थी।

वर्षा में कई-कई स्वर सुनायी पड़ रहे थे। कभी एक-दूसरे में गुंथे हुए, फिर कभी एकदम अलग...साफ-साफ। 'दी विल्लो विकी रन्स थ्रू द टाउन। अपस्टे-यर्स एण्ड डाउन स्टेयर्स इन द नाइट-गाउन..।' और फिर जैसे बारिश की लय बार-बार उठती और गिरती। फिर एक विराम। फिर 'डिंग डिंग सैड—बी बी बी, आई काण्ट फाइण्ड माई वे होम...।' 'फिर ..' तुम डोगरे हो। यू हैव इन-हेरिटेड नथिंग...उसने तुम्हें गोली क्यों नहीं मार दी।' फिर एक तेज चीखती हुई आवाज—'चिन्नू'—माँ की, पापा की, सुबोध, जगत, दद्दा या बहन की।... कितनी बेमानी ! और फिर तेज वर्षा के साथ सनसनाती बौछार-भरी हवा।

कोर

वे सभी एक लम्बी छाया का पीछा कर रहे थे। उन्हें कई वर्ष हो गये उन्होंने उन वर्षों को बड़े जतन से संचित कर रखा था। सबकी नज़रों से छि कर उन्होंने अपनी पसलियों पर उतनी ही काली लकीरें खींच रखी थीं। उन व वर्षों के साथ एक-एक करके वे अपनी पसलियों पर काली लकीरें बढ़ाते जा थे। जब कभी अपने बन्द हमाम में उनकी नज़र इन काली लकीरों पर पड़ वे न जाने क्यों काँपने लगते। चाहे पानी गर्म हो या ठण्डा, उनकी यह कँपक बन्द न होती। तब वे चाँदनी रात में नदी के किनारे या रेगिस्तानी पड़ाव में घाटियों की जगहों में सम्मिलित रूप से नंगे हो जाते और एक-दूसरे की पसलि पर खिंची उन काली लकीरों को परस्पर गिनने लगते। उनका डर कुछ थम जात फिर वे हड़बड़ा कर कपड़े पहनना शुरू कर देते और लम्बी छाया के पीछे र जाते...। हम दोनों भी उनके साथ थे।—मैं और मेरा दोस्त..।

"क्या वे कैलेण्डर से पता नहीं कर सकते ?" मैंने अपने दोस्त से पूछा

"कैलेण्डर ईमानदार नहीं होते।" उसने कहा।

"और ये लोग क्या...।"

"शी: ई ई...।"

"फिर अपने माथे पर ये लकीरें क्यों नहीं खींचते !"

"वे अभी बूढ़े होना नहीं चाहते होंगे।"

"ये सभी शादीशुदा लोग हैं।"

"तुम भी ब्रह्मचारी नहीं हो।"

"मैं कहता हूँ...मैं...व्यवस्था...प्रपंच...हत्या...मैं इनके लिए...मैं...।

"हमें टूटे वाक्यों में नहीं बोलना चाहिए।"

"मैं कहता हूँ, यदि मेरी अन्तरात्मा नष्ट नहीं हुई है तो यह सच है।"

"तुम्हारे पास अपनी अन्तरात्मा के लिए क्या सबूत है ?"

"मैं कहता हूँ, वह लम्बी छाया कहीं नहीं है।"

"वे लम्बी छाया को अपने लिए जीवित रखे हुए हैं। और उसका पीछा कर रहे हैं।"

"और तुम उनके साथ हो।"

"हम उनके पीछे हैं।"

"वे अपना कार्यक्रम रात में ही क्यों शुरू करते हैं?"

"उनका कोई कार्यक्रम नहीं है।"

"आओ, हम पिछड़ जायें।"

"हमें चुप रहने की आदत डालनी चाहिए।"

"मैं तो सिर्फ एक निश्चय पर पहुँचना चाहता था।"

"उन्हें किसी निश्चय पर पहुँचना नहीं है।"

"तुम्हें पीछा करना है?"

"हमें उनका पीछा करना है।"

"मैं पिछड़ जाऊँगा...मैं नहीं जाता।"

"क्या तुम बिना सबूत के मरना चाहते हो?"

"अन्तरात्मा के लिए सबूत, मरने के लिए सबूत, जीने के लिए सबूत . सबूत के लिए सबूत ।"

"हमें जल्दी करनी चाहिए। वे चेतावनी दे रहे हैं...।"

अचानक ही वे एक जगह रुक गये। वह, शायद एक स्कूल का पिछवारा था। वहाँ एक ईंटों का भट्ठा था और मिट्टी निकालने की वजह से कई बड़े-बड़े गढे बन गये थे। गढों में ढेर सारे बच्चे जगह-जगह कतार में बैठे थे। और सुअरों से परेशान हो रहे थे। सुअरें हुँकड़ती हुई उनकी नंगी टाँगों के पास मँडरा रही थी। बच्चे उन्हें ढेले मार रहे थे और हँस भी रहे थे। वहीं पास में एक कुआँ था। उसमे पानी की सतह तक पहुँचने के लिए लोहे की सीढ़ियाँ लगी हुई थीं। उन सभी सीढ़ियों पर ऊपर से नीचे तक बच्चे खड़े थे और चुल्लु-भर पानी नीचे से ऊपर पहुँचा रहे थे।

"क्या तुम लोग रात में स्कूल जाते हो।" उनके नेता ने पूछा ?

"क्या तुम लोग रात में दौड़ लगाते हो ?" बच्चों ने जवाब दिया।

"रात कहाँ है ?" नेता ने मुस्कराते हुए कहा।

"स्कूल कहाँ है ?"

"तुम लोग कर क्या रहे हो ?"

"हम लोग चुल्लू-भर पानी निकाल रहे हैं—तुम्हारे लिए।"

वे सभी बड़े खुश हुए और बच्चों पर तरस खाने लगे। ऐसे बुद्धिमान बच्चों को लोगों ने कुओं में और सुअरों के बीच छोड़ दिया है। उन्होंने तय किया कि जब तक वे फिर लम्बी छाया का पीछा नहीं करने लगते, वे सुअरों से बच्चों की हिफ़ाजत करेंगे। अतः वे सुअरों पर पिल पड़े। बच्चे भय-विस्फारित आँखों से उन्हें देखने लगे। उन्होंने चीख-चीख कर रोना शुरू कर दिया। उनकी काँपती हुई नंगी टाँगें खड़ी हो गयीं और अँतड़ियाँ ऐंठने लगीं।

"वे सुअरों से निजात नहीं चाहते थे।" मैंने धीरे से अपने दोस्त से कहा।

"कोई भी सुअरों से निजात नहीं चाहता।" वह फुसफुसाया।

"यहाँ के बाशिन्दे बड़े ग़ैरज़िम्मेदार हैं।"

"वे सिर्फ़ अपने बच्चों की अँतड़ियाँ सुअरों को सूँघने देते हैं।"

"उनका कोर्ट-मार्शल होना चाहिए।"

"क्या तुम यहाँ के बाशिन्दे को जानते हो ?" नेता ने मुझसे पूछा।

फिर उन्होंने कुएँ की दीवारें तोड़नी शुरू कर दीं। उनका खयाल था—वे वहाँ ज़रूर होंगे—उन बच्चों के जन्मदाता। कुँएँ में कई जगह दरारें पड़ गयी थीं और उनके बीच से गँदला जल, सड़ा हुआ कीचड़, गोबर, मछलियों की हड्डियाँ, और विचारहीन नवजात कीट-शिशु रिसते हुए चले आ रहे थे। नेता अत्यन्त भावुक हो गया और उससे मूर्खतापूर्ण सवाल करने लगा—'बताओ भाई ! तुम किसकी सन्तानें हो ? तुम्हारा देश कौन-सा है ? तुम किन परम्पराओं में रिसते हुए यहाँ, इस कुएँ में चले आ रहे हो ?' लेकिन जब उसे कोई जवाब नहीं मिला तो वह हँसने लगा, गोया मज़ाक़ कर रहा हो। फिर उन्होंने कुएँ की सीढ़ियाँ तोड़नी शुरू कर दीं। बच्चे और सुअरों ने भागना शुरू किया। उनके नेता ने कहा कि सब लोग या तो सुअरों की पूँछ पकड़ लें या बच्चों की आवाज़ का पीछा करें। इन बच्चों को पैदा करने वाले ज़रूर कहीं-न-कहीं होंगे। ये पालतू सुअरें ज़रूर

किसी सुग्ररबाड़े में जायेगी । इनमें कई गर्भवती है और वे अपने को इस तरह असुरक्षित नही छोड सकती । फिर वे वहाँ के वाशिन्दो का पता लगाने मे सफल हो जायेंगे। नेता की आज्ञा से उन्होने मेक-अप किया, भयावने मुखौटा लगाये, कवच पहनकर बदन को फुला और लुटेरो की भूमिका मे न्याय के लिए उतर गये । उनका ख्याल था कि ये गैरजिम्मेदार, कंजूस बच्चो को कुएँ से चुल्लू भर पानी निकालने और सुअरो को उनकी अँतडियों मे थूथन ठूंसने के लिए छोड देने वाले लोग निश्चय ही मालदार होंगे । अत: उनमे से अधिकाश ने नेता के साथ सुअरो की पूँछ पकड ली और कुछेक बच्चों की आवाज का पीछा करते हुए एक ही दिशा मे चल पड़े ।

काफी दूर की अन्धी दौड़ के बाद उन्हे रुकना पडा । वहाँ चारों ओर फूस की झोपडियाँ थी सुअरें और बच्चे एक ही साथ इन झोपडियो मे घुस गये और किलकिलाने लगे । बाहर मैदान मे एक बडा-सा मच बना हुआ था । उस पर बैठा कोई 'देवता' प्रवचन कर रहा था और नीचे नर-नारी थरथर काँप रहे थे । उन्होने आव देखा न ताव, उस 'देवता' को झपाटे के साथ मच के नीचे घसीट लाये और बूटो से उसका सिर कुचल दिया । अन्दर उन्होंने देखा कि उसके दिमाग के सारे पुर्जे विदेशो मे बने हुए थे । उनमे जग लग गयी थी । नेता के साथ ही वे सभी इस माल के हाथ लगने पर बडे खुश हुए । नीचे, वहाँ आस-पास वाशिन्दे तब भी उसी तरह थरथर काँप रहे थे ।

"वह हमे सुअरो के बाड़े से निकालना चाहता था ।" एक ने कहा ।

"वह हमे लुटेरो का पता बता रह था ।" दूसरा ।

"उसकी बातें हमारी समझ मे नही आ रही थी ।" तीसरा ।

"वह कह रहा था कि हम उसे चुनकर राजधानी भेज दें ।" चौथा ।

"हमने किसी को चुनकर नही भेजा । वे सब खुद चले जाते हैं ।" पाँचवाँ ।

"और वहाँ मुखबिरी करते हैं " छठा ।

"तुम्हारे पास मिट्टी का तेल है ?" नेता ने कडक कर पूछा ।"

"क्या तुम लोग हमारी झोपडियाँ जलाओगे ?" एक बूढ़े ने आगे बढकर पूछा ।

"हम इस 'देवता' के दिमाग के पुर्जो की जग छुडायेंगे ।"

उनमे से एक आदमी दौडकर तेल ले आया । नेता और साथियो ने पुर्जों को खूब अच्छी तरह साफ करके अपनी जेबो मे भर लिया । जब वे काफी प्रसन्न और

मौलिक बनने का प्रयत्न कर रहे थे। अपने आत्मविश्वास में वे सभी मशक की तरह फूलने-पिचकने लगे।

"तुम लोग अपने बच्चों की अँतड़ियों का क्या करते हो ?" नेता ने पूछा।

"हमारे पास बच्चे नहीं हैं।" बूढ़े ने कहा।

"फिर वे सुग्रर बाड़े में कौन किलबिला रहे हैं ?"

"सुग्ररें क्या रही होंगी।"

"क्या तुम्हें आदमी और सुग्ररों में कोई फ़र्क़ नहीं जान पड़ता ?"

"तुम्हारे लिए क्या फ़र्क़ पड़ता है ?"

"तुम लोगों के बच्चे सुग्ररों के पेट से पैदा होते हैं ?"

"तुम लोग तो यही समझते हो।"

"तुम्हारे पास बहुत-सी चीज़ें होंगी। तुम लोग काफ़ी मालदार जान पड़ते हो।"

इस पर बूढ़े सहित सारे नर-नारियों ने अपनी आँखें निकाल कर हथेलियों पर उनके सामने रख दीं। नेता के साथ ही पूरा-का-पूरा गिरोह एक बार चकित रह गया। वे इस तरह की घटनाओं के आदी नहीं थे। उनकी समझ में नहीं आया कि 'न्याय के लिए' जिन लुटेरों की भूमिका वे निभा रहे थे, उससे हथेलियों पर रखी उन आँखों का क्या सम्बन्ध था !

"क्या तुम लोग बिना आँखों के देख सकते हो ?" नेता ने पूछा।

"क्या तुम इन आँखों को राजधानी ले जा सकते हो ?" बूढ़े ने कहा।

"तुम्हें कैसे मालूम कि हम राजधानी ज़रूर लौटेंगे ?"

"क्या तुम इन्हें बेच नहीं सकते ?"

"वहाँ ऐसी घिनौली आँखें नहीं बिकतीं।"

"क्या वहाँ कोई अजायबघर नहीं है ?"

"ऐसी घिनौनी आँखे अजायबघर में नहीं रखी जातीं।"

"तब हम अपनी पगड़ियाँ दे सकते हैं।"

"हम लोग टाई पहनते हैं।"

"हम बहुत दिनों से नंगे सिर हैं। हमने अपनी पगड़ियाँ मोर्चा लगे टिन के बक्सों में छिपा रखी हैं।"

"इसीलिए तुम लोग गंजे हो गये हो। तुम लोग पगड़ियाँ पहनते क्यों नहीं ?"

"हम उन्हें नहीं पहन सकते। हम बच रहे हैं। तुम लोग इन पेड़ों की काली-सिलहुत शाखायें देख रहे हो ? हम अपनी पगड़ियों के सहारे... । हम किसी भी बहाने से लटकना नहीं चाहते।"

"लेकिन हमने कहा नहीं, हम टाई पहनते हैं।"

"टाई तो बहुत छोटी होती है। वह तुम्हारे किस काम आयेगी। पगड़ियाँ तुम्हारे लिए ठीक रहेंगी। तुम्हें आसानी होगी।"

"तमीज से बातें करो। हम आत्महत्यारे नहीं हैं।"

"हम तुम्हें बच्चों की अँतड़ियाँ और सूखी गौवें नहीं दे सकते "

"तुम जानते हो, हम कौन हैं ?"

"हमें मालूम है,... तुम्हें पगड़ियों की सख्त जरूरत है।"

"तुम्हें सभ्यता सिखानी पड़ेगी।"

"क्या तुम इन सुअरों को राजधानी ले जा सकते हो ?"

"हम एक लंबी छाया का पीछा कर रहे हैं जो, हो सकता है, एक दिन तुम्हें भी. . ।"

"मौज करो प्यारे।"

"आखिर तुम लोग कब तक उजड्ड-गँवार बने रहोगे ?"

"क्या तुम राजधानी को यहाँ ला सकते हो ?"

इसके पहले कि कुछ होता, उन्हें कुहरे में जाती वह लम्बी छाया फिर दिखाई पड़ गयी। उन्होंने फिर उसका पीछा करना शुरू कर दिया। अब वहाँ बिल्कुल सन्नाटा था। उखाड़े गये मंच का मलवा अँधेरे में ढूह की तरह उठा हुआ था। फूस की झोपड़ियों में शान्ति थी और बच्चे सुअरों के साथ आराम से सो गये थे। मैदान खाली हो गया था और लोगों के पाँवों के कचर-बचर निशान सिर्फ रह गये थे। मैं वहाँ जरा देर को रुक रहा। वह बूढ़ा वहीं अभी चुपचाप खड़ा था। मेरी इच्छा हुई कि उसे नमस्कार करता चलूँ। लेकिन तभी मेरे दोस्त ने इशारा कर दिया। वे सभी लम्बी छाया का पीछा करते हुए, पीछे घूमकर हमें देख रहे थे। हम दोनों आगे बढ़ गये।

"तुम्हें बूढ़ों को नमस्कार नहीं करना चाहिए।" मेरे दोस्त ने कहा।

"क्योंकि 'वे' मुझे ग़द्दार घोषित कर देंगे!" मैंने कहा।

"हमें चलते रहना चाहिए।"

"तुम क्या समझते हो, वे उस लम्बी छाया को पकड़ लेंगे?"

"वे सिर्फ़ पीछा कर रहे हैं।"

"क्या तुमने (जैसा कि वे कहते हैं) घाटी में, ऊँचे पर्वतों पर, रेगिस्तानों की धुंध में, या फूस की झोपड़ियों के इर्द-गिर्द या शहरों के गटर्स में या पतली नंगी गलियों में, या बुझी हुई भट्टियों के पास या सुअरों के श्मशान में, उस छाया को भागते हुए कभी देखा है?"

"क्या तुम भाषा के ऐन्द्रजालिक अलंकरण में विश्वास रखते हो?"

"मैं कहता हूँ, ये मानवता या देश या झंडे के प्रति जिम्मेदार नहीं हैं।"

"वे झंडे का पाजामा बना लेंगे या फिर डबल-बेड चादरें।"

"मैं कहता हूँ, ये सभी लोग कायर हैं।"

"वे कायरता की रक्षा में लम्बी छाया का पीछा कर रहे हैं।"

"वे अपनी कायरता की रक्षा में गोलियाँ भी चला सकते हैं।"

"हमें अवसर नहीं देना चाहिए।"

"तुम क्या सोचते हो, वे 'दूसरे लुटेरों' की तरफ़ इशारा करेंगे।"

"वे निरीह लोगों की तरफ़ इशारा करेंगे।"

"तुम जानते हो, इस देश में लुटेरे कभी पैदा हुए हैं या हो सकते हैं?"

"इतिहास के अनुसार वे हमेशा बाहर से आते हैं।"

"और आते रहेंगे।"

"इतिहास के अनुसार।"

"और उनका आना-जाना अगर किसी भी कारण से सम्भव नहीं हो सका तो वे अपने दिमाग़ के पुर्जे यहाँ किसी-न-किसी तरह ज़रूर भिजवा देंगे।"

"दिमाग़ का नहीं, सिर्फ़ गुलामी का आयात सम्भव है।"

"फिर वे उस 'देवता' की तरह मंच बनाएँगे और प्रवचन देंगे।

"तब हमें काँपते नर-नारियों की भीड़ में शामिल होना पड़ेगा।"

"क्या उनमें साहस है कि वे उन नर-नारियों की तरह अपनी आँखें निकाल कर हथेलियों पर रख सकें?"

"वे सिर्फ पोशाकें बदल-बदल कर मुद्राएँ बनाते हैं।"

"क्योंकि उनके हाथो मे शक्ति है।"

"क्योंकि उनके हाथो मे शक्ति नही है।"

"क्या तुम उनकी जेब से जग लगे आयातित पुर्जे बाहर निकल सकते हो ?"

"तुम्हे तो जरूरत नही थी !"

"मैं उन्हे समुद्र मे फेंक देना चाहता हूँ—हमेशा के लिए।"

"तुम्हें नही मालूम, वे बहुत अच्छे पनडुब्बे हैं।"

"मैं अकेला हूँ, नहीं मैं उन्हें बनाता।"

"अफसोस, कि कोई भी अकेला नही रह गया है।"

"यह एक घटिया संयोग है कि मैं तुम्हारे साथ हूँ समझे, वरना...।"

"दुनिया आज भी जितनी घटिया सयोगो पर निर्भर करती है उतनी ज्ञान-विज्ञान पर नही।"

"मैं अकेला हूँ . अकेला हूँ .. अकेला हूँ।"

"तुम अपने अकेलेपन के लिए किसका कोर्टमार्शल करोगे ?"

"तुम हँस क्यो रहे हो ?"

"चलो, नही हम पिछड जायेंगे।"

"तुम श्रद्धा-गदगद हो... तुमने .।"

रात काफी गहरा गयी थी और रास्ते के पुराने खडहरो मे बूढे उल्लुओ की 'हुऊऊक' शुरू हो गयी थी। उन्होंने काफी कोशिशें की लेकिन नाकामयाब रहे। सामने नदी थी और उसका चौडा पाट अंधेरे मे भूरे संगमरमर की तरह जमा हुआ था। वह लम्बी छाया उन्हे धता बताकर उस सगमरमर पर पाँव रखती उस पार निकल गई थी। हम दोनो पहुँचे तो वे सभी किनारे पर सिर झुकाये बैठे थे। हमने सोचा था कि वे निरुत्तर होंगे और गश्त लगा रहे होंगे। क्योंकि वे फिर जहाँ से भी चाहेंगे, उसका पीछा करना शुरू कर देंगे। क्योंकि उन्हें अभियान जारी रखना था अत यह तय था कि वे जहाँ कहीं भी होंगे उस लम्बी छाया के बारे मे सोचने लगेंगे। लेकिन हमने पाया कि वे बहुत दुखी लग रहे थे। न तो वे
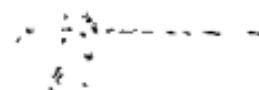
अब इस सम्बन्ध में कोई मौलिक खोज कर सकते थे, न अपने अभियान को किसी और दिशा में मोड़ ही सकते थे । वे अधिकांश प्रयोग कर चुके थे । उन प्रयोगों की काली लकीरें उनकी पसलियों पर अंकित थीं । लेकिन अब तक उस छाया का अस्तित्व या उसके भागने की दिशा तय नहीं हो पायी थी ।

"मैंने सोच लिया है ।" उनके नेता नेता ने एकाएक चमत्कृत होकर कहा । सभी उसका मुँह ताकने लगे ।

"हम उसकी सिद्धि के लिए शव-साधना करेंगे । अब यही मात्र एक उपाय रह गया है । हम बिना किसी इतिहास के बूढ़े नहीं हो सकते । हमें सिद्ध कर देना है कि हमारा अभियान झूठा नहीं था । लेकिन, जैसा कि मेरा विचार है, हमें एक बात के प्रति सावधान रहना चाहिए । हमें अपनी साधना के लिए कोई महत्वपूर्ण शव चाहिए ।"

"शव सभी एक समान होते हैं ।" किसी ने कहा ।

"मेरा मतलब किसी महान पुरुष के शव से है ।"

"हमारे यहाँ महान पुरुषों का शव सुरक्षित रखने की परम्परा नहीं है ।"

यह सुनकर नेता फिर सिर पकड़ कर बैठ गया ।

"क्या किसी महान पुरुष के विचारों के शव से काम नहीं चल सकता ?"

"वह हमें कहाँ मिलेगा ?" नेता फिर चमत्कृत हो गया ।

"हम उसे जगह-जगह ढूंढ़ेंगे ।"

इस पर सभी सहमत हो गए । फिर कई रातों तक वे स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों और किशोर विद्यार्थियों के बीच उसे ढूंढ़ते रहे । उन्होंने पुस्तकालय छान मारे । उन्होंने लॉकर्स तोड़ डाले, लोगों के निजी बिस्तरों को उलट-पुलट कर देखा । उन्होंने बीमार और अपाहिजों की आत्मस्वीकृतियाँ इकट्ठी कीं । वे पुलों के तख्ते उलट देते और सड़कों की सीमेण्ट खोद कर देखते । उन्होंने पर्दा लगी बैलगाड़ियों की खोज-बीन की । उन्होंने बुझे हुए चूल्हों की राख उलट-पुलट कर देखी और भूख से बिलबिलाते बच्चों की जीभ का रंग जाँचा-परखा... । अक्सर वे विपन्न किन्तु शान्त लोगों के बीच से गुज़रते और उन्हें लम्बी छाया के आतंक से हतप्रभ कर देते । उन्होंने भिखारियों के पैवन्द लगे चिथड़ों की सीवनें उधेड़ कर देखा और उन्हें डराया-धमकाया । फिर वे उस शव को प्राप्त करने की जी-तोड़ कोशिशें करते । वे जहाँ कहीं भी जाते वही वाक्य बार-बार दोहराते,

'क्या तुम उस महान पुरुष को जानते हो, जो अर्द्ध-नग्न रहता था, लकुटिया टेक कर चलता था और सारी मनुष्य जाति के लिए चिन्तित रहने का 'दम्भ' करता था। दम्भ—यह शब्द प्रयुक्त कर, वे उन तमाम लोगों के छिपे विचारों के पीछे कुत्ते लगा देते। लेकिन लोग अपने काँपते हाथ जोड़कर पृथ्वी को नमन कर लेते। वे निराश होकर आगे बढ़ जाते। तब वे दुबारा उन फूस की झोपड़ियों में गये। उन्होंने उस मंच के मलबे पर फिर नया मंच तैयार किया और सुअरों सहित सारे बच्चों और नर-नारियों को इकट्ठा किया। उन्होंने वादा किया कि वे उनके कुएँ बनवा देंगे, सुअरों को राजधानी ले जायेंगे। फिर उन्होंने अपनी शर्तें बतायीं। लेकिन कुछ असर नहीं हुआ। उन्होंने उनके मोर्चा लगे टिन के बक्स तोड़ डाले। उनकी पगड़ियाँ टटोलीं। उनकी सूखी गौओं की आँखों में ढूँढा। लेकिन फिर भी कुछ हल नहीं निकला। थरथर काँपते नर-नारियों ने बताया कि उन्होंने इधर कभी कोई शव नहीं देखा। यहाँ अक्सर लोग मरते रहते हैं लेकिन हम उन्हें तुरन्त जला देते हैं . । इस तरह अन्ततः वे निराश होकर लौट आये और फिर एक रात सलाह-मशविरे के लिए नदी के किनारे एकत्र हुए। मैंने सोचा कि एकान्त है, जगह अच्छी है, यहाँ कोई भेदिया नहीं है। अतः लम्बी छाया पर एक बहस हो जानी चाहिए। हमें अपने तईं सच्चाई को जानना ही होगा। मैंने अपने दोस्त की ओर देखा। वह मुझे बहस का प्रस्ताव रखने से मना कर रहा था। मैं उसके इशारे को न समझूँ तो? उसने ठीक ही कहा था—मैंने सोचा। हमारे पास क्या सबूत होगा, इस खौफनाक, ठण्डे कोरस से अलग? ठीक है, अगर नहीं है, या नहीं हो सकता तो हम क्या कर सकते हैं। उन थरथर काँपते नर-नारियों के पास भी कोई सबूत नहीं है कि... । मैंने पाया कि उनका नेता हमें घूरता हुआ मुस्करा रहा था। कायरों की विजय भी इतनी दिलकश होती है, मैंने सोचा।...

"तुम लोग झूठे हो, मक्कार हो।" मैं फट पड़ा।

"हमें इन शब्दों से कुछ नहीं लेना-देना।" नेता ने निर्विकार भाव से कहा।

"तुम सभी अपराधी हो.. तुम सभी... ।"

"हम सिर्फ इतिहास-निर्माता हैं।"

"तुम्हारा इतिहास झूठा है, निरर्थक है। तुमने सिर्फ अपने लिए साँचा ढूँढ लिया है।"

"इतिहास सिर्फ़ इतिहास होता है—झूठ या सच नहीं होता।"

"तुम समय के लम्बे सन्दर्भ में एक कलंक की तरह रहोगे।"

"हम सिर्फ़ 'रहेंगे'।"

"तुम्हारा अभियान निष्फल है।"

"हमें सफलता की कोई ज़रूरत नहीं थी।"

"हम दोनों तुम्हें नष्ट कर देंगे। हम लोगों को तुम्हारी वास्तविकता बतायेंगे। हम तुम्हारा भेद खोद के रहेंगे...।"

"इतिहास के अन्दर कोई भेदिया नहीं होता। तुम जो भी कहोगे-करोगे, लोग तुम्हें हमारा 'व्याख्याता' ठहरा देंगे। हमारी असफलता तुम्हें मंडित करती चलेगी। तुम हमें स्थापित करते चलोगे।" वे सभी उठकर घाटियों की सुरक्षित जगहों की ओर चल दिये।

"पकड़ो, इन्हें पकड़ो...ये सभी हत्यारे हैं...ये सभी।" मैं जोर से चिल्लाया।

"हमें चुप रहने की आदत डालनी चाहिए।" मेरे दोस्त ने कहा।

"मैं इन्हें नहीं जाने दूंगा।"

"क्या तुम चल नहीं रहे हो ?"

"मैं किसी निश्चय पर पहुँचना चाहता हूँ।"

"तुम किसी निश्चय पर ही पहुँच कर खत्म हो जाओगे।"

"मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगा। तुम मेरे गवाह हो...तुम मेरे...।"

"मुझे मरना नहीं हैं। मैं चल रहा हूँ।"

"मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगा।" मैं उससे चिपट गया।

"अब उन्हें शव मिल जायेगा।...अब उन्हें दिक़्क़त नहीं होगी।" मेरा दोस्त एक वार ज़ोर से चीखा और फिर निस्पन्द पड़ गया।

सुवह हो गयी थी—मैंने देखा। मेरी गर्दन एक भयावने फीलपाँव के नीचे दवी हुई थी, जिसकी लम्वी छाया दूर-दूर तक पसरी हुई थी...।

झाड़ू-सी लगी। हाँ, पत्नी ही थी। दालान में कुछ दूर पर अँगीठी रख रही थी। एक हाथ में परोसी हुई थाली थी। अँगीठी रखकर वे दर्शन की ओर गयी। दर्शन से कुछ ही दूर पर बुढ़िया एक खाट पर चुपचाप बैठी थी। पत्नी ने थाली बुढ़िया के आगे रख दी। बुढ़िया एकटक उनका मुँह ताकती रही। उन्होंने हाथ से थाली की ओर इशारा किया। बुढ़िया ने एक बार थाली की ओर देखा और फिर उनकी ओर, फिर मुस्करायी। पत्नी ने फिर थाली की ओर इशारा किया तो बुढ़िया ने थाली उठा कर अपनी गोद में रख ली और बड़े-बड़े ग्रास तोड़ कर निगलने लगी। वे चुपचाप किन्तु कुछ बड़े सीधे ऊपर गईं। दुबारा लौटीं तो उनके एक हाथ में एक छोटी-सी कटोरी थी और दूसरे हाथ में पानी का लोटा। कटोरी अँगीठी पर रखकर वे फिर बुढ़िया की खाट के पास गयीं और पानी का लोटा नीचे रखते हुए बुढ़िया को उँगली के इशारे से दिखा दिया। बुढ़िया ने एक बार लोटे की ओर देखा और उनकी ओर देखकर फिर मुस्कराने लगी। ऐसा लगता था, जैसे केवल मुस्कराना भर उसे आता हो, और कुछ भी नहीं। फिर वह खाने में मशगूल हो गयी। रोटी के खूब बड़े-बड़े कौर तोड़ती और मुँह में डालकर चपर-चपर मुँह चलाती। और अभी खतम भी न हुआ होता कि फिर रोटी का एक बड़ा-सा टुकड़ा तोड़ती और दाल में लोट कर वह मुँह में ठूँस लेती।

"इसे इसी तरह खाने की आदत पड़ गयी है।" पत्नी ने कहा। वे चुपचाप दर्शन के पास बैठी थीं।

वह बिना कुछ कहे बुढ़िया को देखता रहा।

"और जब से ऐसी हो गयी है, खुराक काफी बढ़ गयी है।"

"... .. .."

"बड़ी ढीठ हो गयी है। कुछ नहीं समझती। जहाँ जाती है वहीं .."

फिर भी वह कुछ नहीं बोला तो पत्नी बैठ गयी। बालों में हाथ फेरते हुए

बोलीं, "क्या किया जाए, कोई बस नहीं चलता।.. अच्छा, मैं नीचे का काम निबटाकर अभी आई। आप ज़रा अँगीठी की ओर ख़याल रखना—दूध उफन कर गिर न जाए।"

वे उठ कर जाने लगीं।

सीढ़ियों के पास से मुड़कर उन्होंने कहा, "सो न जाइएगा, हाँ।" वे मुस्करायीं और नीचे उतर गयीं।

करवट बदल कर वह दूसरी ओर देखने लगा। सामने बरगद का वही विशालकाय वृक्ष जन्म-जन्मान्तर से इस कुल के सुख-दुःख का साक्षी। कितना घना अन्धकार...। कितने दिनों बाद उसने देखा था, इतना ठोस, गझिन, शीतल और मन को सुकून देने वाला अन्धकार। शायद दस वर्षों बाद। यह बरगद का पेड़ वैसा ही था। ऊपर की एक-दो डालें आँधियों में टूट गयी थीं और उसकी गोल-गोल छाया के बीच, ऊपर से गहरा, काला खन्दक-सा बन गया था। जहाँ-तहाँ जुगनू नन्हें-नन्हें पत्तों के बीच दमक कर हल्का प्रकाश फेंक जाते। पत्ते छिपकर, अँधेरे में फिर एकाकार हो जाते। एक, दो, तीन, चार, पाँच, दस और फिर असंख्य जुगनू—जैसे पूरा पेड़ उनका सुनहरा घोंसला हो। पीछे की ओर घनी बसवारियाँ थीं। बाँसों का एक झुरमुट छत के एक कोने तक आकर फैला हुआ था। हवा की हल्की थाप पर पत्तियों का झुनझुना रह-रह के बजता और फिर सब शान्त। एक ओर कटहल के दो पेड़ अन्धकार को और भी घना करते हुए चुप थे। दरवाज़े के बाहर, नीचे दादा सोये हुए थे। नाक बज रही थी। उसने घड़ी देखी...दस। कान के पास ले जाकर वह घड़ी के चलने की आवाज़ सुनता रहा—चिड०, चिड०, चिड०, चिड०...जैसे विश्वास नहीं हो रहा था कि दस ही बजे इतना ख़ामोश अँधेरा हो सकता है...।

इसके पहले जब वह घर आया था .।

उस बार भी दादा ने ही लिखा था, पिता की मृत्यु के बारे में। फिर तार भी दिया था। वह चुपचाप पड़ा रहा। जिनके यहाँ रहता था, उन्हीं के लड़के से चिट्ठी लिखवा दी। 'संजय यहाँ नहीं हैं। बाहर गये हैं। कब तक लौटेंगे,

किसी को पता नही। कहाँ गये हैं, यह भी किसी को नहीं मालूम।'...फिर दिन भर वह घर में ही पड़ा रहता—नंग-धड़ंग, बिना खाये-पिये, अपनी नसों की आहट सुनता। बीच-बीच में कभी-कभी वह सोचता कि यह खबर गलत है। दादा ने झूठ-मूठ ही लिख दिया है, उसे घर बुलाने के लिए। लेकिन नही, इतना बड़ा झूठ दादा जी नही लिख सकते। उसने लोगों से मिलना-जुलना छोड़ दिया। एकदम नंगी, वीरान सड़कों पर वह चलता चला जाता . चला जाता... तब तक, जब तक थककर चूर-चूर न हो जाए। कही नदी के किनारे पानी मे पैर डाले बैठा रहता . । इसी तरह कई महीने गुजर गये थे। दादा की चिट्ठी आयी—'माँ बहुत उदास हैं। दिन-रात रोती रहती हैं उसे बुलाती हैं . '

चुपके-से बिना सूचित किए वह घर चला आया था। माँ दिन भर रोती रही। वह चुपचाप उनके पास एक अपराधी की भाँति बैठा रहा। माँ अन्य-मनस्क भी लग रही थी। धीमे से एक बार कह भी डाला—'ऐसे पूत का क्या भरोसा। जो अपने बाप का न हुआ वह और किसका होगा ।' रात हुई तो वह बाहर ही सोया। माँ आयी और चुपके-से चादर उढ़ा गयी। बचपन से ही माँ की यह आदत थी। जब-जब वह चादर फेंक देता, माँ उठ-उठ कर ठीक से उढ़ा दिया करतीं। नींद आने के लिये तलुवे सहलाती। सिर उठाकर तकिये पर रख देतीं . ।

लेकिन दूसरे दिन माँ आयी और चुपचाप पायताने बैठकर पैर दबाने लगी। उसे लगा कि माँ सिसक रही हैं। वह उठ कर बैठ गया। कितना असह्य था, माँ का यह रोना ..यह सब कुछ। माँ को वह क्या कह सकता था ? माँ क्या सब जानती नही थी ? शायद पिता भी जानते थे और सारा घर जानता था। लेकिन कोई भी क्या कर सकता था। ठीक है, जो हो रहा है वही होने दो—उसने सोचा। उसे लगा कि कहीं कुछ घट नहीं रहा है। सब कुछ अपनी जगह पर एकदम अचल है वह जड़ हो गया है—अपने से भी पराया।...माँ तलुवे सहलाती हुई सिसक रही थी उसके मुँह से कुछ नहीं निकला। आखिर माँ ने उठते हुए कहा था, बेटा ! इतना हठ किस काम का ! पिता तेरे क्या कम दुखी थे ? लेकिन बेटा ! बड़ों से कोई अपराध हो जाय तो उन्हें इस तरह कहीं सज़ा दी जाती है। पिता तो परमात्मा हैं। और फिर वे भी क्या जानते थे ? बेटा ! बड़ा वह है जो अपनी तरफ से सभी को क्षमा करता चले। और वह तो गिर

भी नाते में तेरी वह है...कहीं कुछ और हो जाय तो इस हवेली की नाक कट जायगी।" माँ फुसफुसायीं..."अभी कुछ नहीं बिगड़ा है...चल, उठ।" माँ ने बांह पकड़ के उठा लिया।

यही पलंग था। ऊपर आकर वह चुपके से लेट गया था। पत्नी आयीं और खड़ी रहीं, फिर मुस्कराती रहीं।

"बैठ जाइए।" उसने कहा।

"शहर तो बहुत बड़ा होगा," वे बैठती हुई बोलीं।

"जी।" उसने स्वीकार भाव से कहा।

"हमने भी शहर देखे हैं।"

"जी ?"

"कह रही हूँ—हमने भी शहर देखे हैं लेकिन हम कोई रण्डी थोड़े ही हैं।"

"जी ?" वह घूम कर पत्नी को देखता रहा।

वे मुस्करायीं, "सारे इल्ज़ाम उल्टे हमीं पर...अपने बड़े भोले बनते हैं। कितने घाटों का पानी पिया ?..."

"जी ईई !" वह उठ कर बैठ गया, "क्या यही सब सुनने के लिये..." वह उठ कर खड़ा हो गया।

"बहुत खराब लगता है। और नहीं तो क्या वहाँ तप करते रहे ? मर्द तो कुत्ते होते ही हैं। इधर पत्तल चाटी, उधर जीभ चटखारी, उधर हँडिया में मुँह डाला। . सभी लाज लिहाज तो बस हमारे ही लिए है।"

रात के दो बज रहे थे, जब वह स्टेशन पहुँचा था। सुबह होने के पहले ही वह गाड़ी पर सवार हो चुका था और दिन निकलते-न-निकलते उसे गहरी नींद आ गयी थी। लोगों के पैरों से कुचला जाता हुआ, एक गठरी की तरह, नींद में ग़र्क वह पड़ा रहा।

दादा की चिट्ठियाँ आती रहीं। हर मनीआर्डर फॉर्म पर नीचे माँ की अनुनय-विनय-भरी चन्द सतरें...फिर अलग से पत्र। उसने लिख दिया, 'अब चिट्ठी तभी लिखूँगा जब बीमार पड़ूँगा। न लिखूँ तो समझना माँ, कि तुम्हारा लाड़ला बेटा आराम से है। उसे कोई दुःख नहीं है।' माँ के पत्र धीरे-धीरे बन्द हो गए। दादा के टेढ़े-मेढ़े काँपते अक्षर याद दिलाते रहे कि माँ अब ज्यादातर चुप रहने लगी हैं। फिर यह कि माँ किसी को पहचान नहीं पातीं। इस बात से उसे जाने

क्यों संतोष हुआ। दादा लिखते रहे और वह चुपचाप पड़ा रहा। जैसे धीरे-धीरे कहीं सारे सम्बन्ध-सूत्र टूटते गए और वह निर्विकार-सा, भूला हुआ-सा चुपचाप पड़ा रहा। किस बात का इन्तज़ार था उसे ? शायद किसी बात का नहीं। कभी उसे लगता था कि सभी ने उसे छोड़ दिया है। अब धीरे-धीरे यह लगता था कि उसी ने अपने को छोड़ दिया है ..। जिस दुःख का कोई प्रतिकार नहीं होता, वह दुःख क्या होता भी है...इसी तरह एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष...चार वर्ष। एक दिन उसने देखा—वैसा ही बड़ा-सा साफ़ा बांधे, छः फ़ीट ऊँचे दादा, सत्तर साल की उम्र में भी उसी तरह तनकर दरवाज़े पर खड़े हैं।

उसका सारा धैर्य और सारा एकान्त जैसे बह गया, उस एक क्षण में ही। किसी भी बात का प्रतिकार नहीं कर सका। दादा जी को रोते देखकर उसके आँसू बन्द हो गये थे...। स्टेशन पर उतरे तो वही पुरानी घोड़ागाड़ी खड़ी थी। शम्भू कोचवान दस सालों में जैसे बिलकुल नहीं बदला था, घोड़े की पूँछ झर गयी थी और उसके बदन पर जगह-जगह घाव के लाल-लाल चिप्पे दिखायी दे रहे थे। ..वही रास्ता ..धूल-धूसरित गाँव, नदी के लम्बे, सूने, दूर-दूर तक खिंचे कगार। अन्तहीन, लम्बे मरीचिका-भरे मैदान और लू में तपती पृथ्वी की प्यासी *आँखों-सा शुष्क और गेरुआ सोता... । बचपन के बारह वर्ष, अपने जिन आत्मीय* दृश्यों में उसने गुज़ारे थे, बाद के बारह वर्षों में वह दूसरी मर्तबा देख रहा था। एक बार पिता की मृत्यु के बाद घर आने पर और दुबारा अब, अब दादा के साथ। जैसे सब कुछ वही था—उसी तरह। सूने मैदानों में हिरनों के झुण्ड छलाँगें मारते हुए नदी की ओर दौड़े जा रहे थे। कहीं-कहीं बबूल की विरल छाँह में नील गायों के झुण्ड कान उठाये खड़े थे...। सब कुछ वही था—उस पार बालू का सफ़ेद सैलाब, तेज़ गरम हवा के झकोरों से क्षितिज तक फैलता हुआ...और सूर्य की अन्तहीन करुणा की रेखा—वह नदी...।

उसने सोचा था—कैसे कह सकता है वह ? किससे कह सकता है—अन्तर की इतनी असह्य यन्त्रणा !

एकाएक उसे भारती का ख़याल आया। दादा ने बताया था, 'भारती आयी हुई है; बहुत हठ से बुलाया है।' फिर वे हरी की प्रशंसा करते रहे। 'बहुत अच्छा लड़का मिल गया। भारती सुखी है।' फिर दादा चुप हो गए। भारती सुखी है, जैसे यह बात कहीं कुरेद गई...। फिर वे बयान करने लगे—'उसके एक

बच्चा भी है। दिन-रात रबड़ की गेंद की तरह लुढ़कता रहता है, इस गोद में उस गोद में। अपनी नानी को खूब तंग करता है...लेकिन वह बेचारी तो...।' दादा फिर चुप हो गए थे। इन बेतरतीब बातों में ढेर सारे चित्र उसकी आँखों के सामने उभर रहे थे। कभी आरती का नन्हा रूप। फिर उसका बड़ा-सा भव्य नारी-शरीर। अजीब-अजीब सा मन होने लगा उसका।

झिलमिलाती हुई आँखों से उसने दादा की ओरदेखा। वे झपकियाँ ले रहे थे।

गाड़ी रुकते ही उसने दरवाजे की ओर ताका। माँ वहाँ जरूर होंगी। लेकिन तभी आरती निकल आयी। एक पल को वह पहचान नहीं पाया। उसकी कल्पना में आरती का यह नक्श कभी उभरा भी नहीं था। आरती ने झुककर पैर छुए। वह वैसे ही देखता रहा। फिर दोनों एक-दूसरे को देखकर मुस्करा दिए। फाटक के भीतर घुसते ही वह इधर-उधर झांकने लगा। कहीं भी माँ होंगी ही। एक विचित्र भाव से संत्रस्त और चुप-चुप वह बहन के साथ-साथ आगे बढ़ता चला आ रहा था। झरती हुई लखौरी ईंटों की दीवारें उसकी आँखों के सामने थीं। उनके आस-पास माँ की छाया तक न दीखी। दालान पार करके आँगन में आ गए। आधे आँगन में दीवार की छाया पड़ रही थी। माँ वहाँ भी नहीं थीं। उसने एक बार फिर बहन को देखा। जवाब में वह मुस्करा पड़ी। फिर वे बैठकखाने में आ गए। बहन ने कहा, "बैठो, मैं नहाने के लिए पानी रखवाती हूँ।"

वह एक पुरानी आरामकुर्सी पर बैठ गया। बैठे-ही-बैठे उसने फिर इधर-उधर ताका। फिर भी माँ नहीं दीखीं। मुड़ कर पीछे की ओर देखा तो उसकी दृष्टि आँगन के पार, अपने कमरे के सामने खड़ी पत्नी पर पड़ गयी। वह चुप-चाप खड़ी इधर ही देख रही थीं। वह सीधा होकर बैठ गया और आरती का इन्तज़ार करने लगा। उसे लगा कि अपने ही घर में वह एक अतिथि है और अपने परिचित कोनों, घरों की दीवारों, ताक़ों, सीढ़ियों को नहीं छू सकता। हर कहीं एक बाध्यता है...एक न जाने कैसी विवश खिन्नता।...वह उठकर टहलने लगा।

तभी आरती अन्दर आयी। काँच की तश्तरी में लड्डू और पानी का गिलास। वह बैठ गया।

"नहाओगे न?"

"माँ कहाँ है ?"

"पहले खा-पी लो तब चलना। पीछे वाले कमरे में होगी।" भारती उठ कर चली गयी।

बिना किसी से पूछे बरामदे से होता हुआ वह पीछे की ओर निकल आया। पत्नी अपने कमरे के दरवाज़े पर खड़ी थीं। उसे आते देखकर उन्होंने हलका-सा घूँघट कर लिया। वह आगे बढ़ गया। कमरे के सामने वह एक पल को ठिठका। किवाड़ उँठगाये हुए थे। उसने हलके-से किवाड़ों को ठेल दिया। खुलते ही एक अजीब-सी सड़ी दुर्गन्ध से नाक भर-सी गई। उसने नाक पर रूमाल रख लिया और अन्दर दाखिल हुआ इधर-उधर देखकर उसने यह पता लगाने की कोशिश की कि यह दुर्गन्ध किस चीज़ की है। लेकिन कोई चीज़ वहाँ नहीं दीखी। फिर भी हर चीज जैसे दुर्गन्ध में सनी हुई थी चारपाई, बिस्तर, खिड़कियाँ छत के शहतीर, फर्श और स्वयं माँ भी। वह चुपचाप चारपाई की पाटी पर बैठ कर माँ को एकटक देखने लगा। बुढ़िया ने कोई उत्सुकता ज़ाहिर नहीं की। वैसे ही छत की ओर देखती रही।

तभी भारती आ गई। सिरहाने बैठकर बुढ़िया के चीकट बालों पर हाथ फिराती हुई बोली, "माँ !"

बुढ़िया न हिली न डुली, न यही ज़ाहिर किया कि उसे किसी ने पुकारा है। बस, चुपचाप छत के शहतीर ताकती रही। एकाध मिनट तक दोनों चुप रहे। बुढ़िया ने करवट बदली और उसकी ओर देखने लगी।

"माँ ! देख, भैया आया है।"

बुढ़िया ने इस बार सिर उठा कर बेटी को देखा और हँसने लगी। "देख, भैया आया है।" उसने दुहराया।

"हाँ, माँ !" बेटी ने जैसे विश्वास दिलाने के लहजे में कहा।

बुढ़िया फिर चुप हो गई और एक पल के बाद उसने आँखें मूद लीं।

वह चुपके से उठ आया।

भारती पीछे से बोली, "भइया, नहा लो।"

तीसरा पहर बीत रहा था । वह बैठकखाने में आरामकुर्सी पर आँखें मूँदे पड़ा था । पत्नी रसोई में छौंक लगा रही थीं । भूख लग आने के बावजूद भी जैसे इच्छा मर गई थी । कुछ भी टिक नहीं पाता था मन में । हज़ारों-लाखों प्रतिबिम्ब जैसे किवाड़ों की ओट से झाँकते और आधी पहचान देकर गुम हो जाते । समाप्त होना किसे कहते हैं... खोना किसे कहते हैं... निस्सहाय होना किसे कहते हैं... मूक होना किसे कहते हैं... अर्थहीन होना किसे कहते हैं—यह सबका-सब कितना स्पष्ट हो गया था अन्तर में ।

...आँखें खोलने पर क्या दीखेगा सच या सपना ?

फिर भी यह देह है और उसी तरह आरामकुर्सी में पड़ी है । बाहर से कहीं कुछ नहीं बदला है । सारा रक्तपात भीतर हो रहा है । और ख़ून कहीं एकत्र होता है... बहता नहीं ।

सब-कुछ वही है । बल्कि दादा, आरती और सारे परिवार को एक निधि मिली है । सभी आज खुश हैं । कुछ घट रहा है । और इधर ? उसे लगा कि अब वह मनुष्य नहीं है । सत्कर्म, सेवा या दुष्कर्म, पाप... सब सामान हैं । जिसके लिए होंगे, उसके लिए होंगे । वह मनुष्य होगा । लोगों की दृष्टि में तो सभी कुछ है, लेकिन उसके लिए ?... सच है कि सब कुछ ज्यों-का-त्यों है, लेकिन मानवीय इच्छाओं का, उसका अपना संसार कहीं अँधेरे में छिप गया है ।

उसने एक झटके से आँखें खोल दीं । आरती उसके पैरों के पास चटाई पर बैठी कुछ-सी पिरो रही थी । उसके देखते ही मुस्करा पड़ी— "नींद आ रही है न ?"

उसने कोई जवाब नहीं दिया । लगा कि कई जन्मों से वह इसी तरह चुप है । बोलना बहुत चाहता है, लेकिन मुँह से कोई शब्द नहीं निकलता । जैसे दिल की धड़कनों पर अनजाने ही हाथ पड़ गया हो और धड़कनें रुक-सी रही हों । जीभ तालू से सट गयी हो । बहुत कोशिश कर रहा हो हिलने डुलने की लेकिन ज़रा भी हरकत न होती हो । जड़, निराधार, निरुपाय वह अपने को ही देख रहा हो...

उसने उठकर खिड़की खोल दी । आँगन का प्रकाश छनकर भीतर आ गया और हवा का एक गरम झोंका बदन छीलता हुआ दूसरी खिड़की से बाहर सरक गया । वह यों ही टहलता रहा ।

"तू किस क्लास में है भारती ?"

"प्रीवियस में।"

"हरी कैसा है ?"

"ठीक है।"

"मुझे कभी याद ..." तभी पत्नी दरवाज़े के सामने से झमक कर निकल गयी। वह चुप हो रहा। फिर भारती उठकर चली गयी।

वह बाहर बरामदे में निकल आया। आँगन में छाया बढ़ रही थी। आधे बरगद पर धूप अभी बाकी थी। उसने छत की ओर देखा। एकाएक माँ को वहाँ देखकर वह घबरा गया। जल्दी से दौड़ कर सीढ़ियाँ तय कीं और छत पर आ रहा। माँ पसीने से तर, नंगे पाँव, जलती छत पर खड़ी थी। उनके आधे बदन पर धूप पड़ रही थी और गरम हवा के हल्के झोंके में रह-रह के उनके धूसर बाल उड़ रहे थे। चुपचाप पश्चिम की ओर पीली, धूल-भरी आँधी और धूल में डूबे बाग-बगीचों के ऊपर छाये हुए आसमान की ओर देख रही थी।

"माँ !" उसने पुकारा।

"फिर बिना कुछ कहे उसने बुढ़िया को बाँहों में उठा लिया और सीढ़ियाँ उतरने लगा। नीचे भारती खड़ी थी। बोली, "क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं, नंगे पाँव, जलती छत पर खड़ी थीं।"

बैठकखाने में ला कर उसने बुढ़िया को आरामकुर्सी में डाल दिया।

"भइया खाना खा लो।" भारती ने कहा।

एकाएक वह चौंक गया। जले हुए दूध की महक आ रही थी। दौड़कर उसने जलती हुई पतीली अँगीठी से उतार दी। उसका हाथ जल गया और पतीली छूट कर ज़मीन पर लुढ़की तो सारा दूध फैल गया। धीमे से बुढ़िया की खिल-खिल सुनायी दी तो उसने घूमकर देखा— वह वैसी-की-वैसी ही बैठी थी। एकदम शान्त, जड़ और निश्चल। जली हुई उँगलियों को मुँह में डाले वह उसकी खाट की ओर बढ़ गया। बुढ़िया एकटक उसे ताकने लगी। उसकी गोद में जूठी थाली वैसी ही पड़ी हुई थी। हाथ जूठे थे और मुँह पर दाल और सब्ज़ी के टुकड़े

सूख रहे थे । उसकी नाक बह रही थी जिसे कभी-कभी वह सुड़क लेती । पानी का लोटा वैसे ही नीचे रखा था ।

तो क्या उसने अभी तक पानी नहीं पिया ? उसने झुक कर लोटा उठाया और बिना कुछ कहे बुढ़िया के होंठों से लगा दिया । गट-गट करके वह तुरन्त आधा लोटा पानी पी गयी । फिर मुँह उठाकर उसकी ओर देखा और मुस्करा पड़ी । उसने थाली हटाकर नीचे डाल दी और बुढ़िया के जूठे हाथ (वह दोनों हाथों से खाये हुए थी ।) धोने लगा । फिर मुँह धोया और अपने कुरते की बाँह से पोंछ दिया ।

"माँ, मुझे पहचानती हो ? मैं कौन हूँ ?"

"माँ, मुझे पहचानती हो, मैं कौन हूँ ।" बुढ़िया ने वाक्य ज्यों-का-त्यों दुहरा दिया । केवल प्रश्नवाचक स्वर नहीं था उसका ।

"मैं संजय हूँ... माँ !"

"... संजय हूँ माँ ।"

उसके भीतर जैसे कोई चीज़ अटकने लगी । वह चुप हो गया । लगा, जैसे अँतड़ियों में बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े आपस में टकरा रहे हैं । उसने बुढ़िया के पाँव उठाकर चारपाई पर रख दिए और पकड़ कर धीमे से लिटा दिया । बुढ़िया लेट रही और टुकुर-टुकुर उसे देखने लगी । वह उसके तलुए सहलाता रहा । बुढ़िया मुस्कराती और फिर हल्के से खिल-खिल करके हँस पड़ती । उसके सफ़ेद चमकदार दाँत टूट गए थे और मुँह खुलने पर एक काले, गहरे बिल की तरह दीखता । चेहरे की झुर्रियों में चिकनाहट आ गई थी और हाथ-पाँव सब चिकने-चिकने थे, जैसे किसी फोड़े के आस-पास की चमड़ी सूजन से खिचकर चिकनी और मुलायम पड़ जाती है ।

"माँ मैं हूँ... संजय," वह बुढ़िया के चेहरे पर झुक गया, "माँ, मैं हूँ... मैं... संजय... ।"

बुढ़िया उस पर खूब ज़ोर से खिल-खिला कर हँस पड़ी और फिर एकदम चुप हो गई । उसकी आँखों से दो बड़े आँसू बुढ़िया के चेहरे पर चू पड़े । इस पर बुढ़िया फिर खिलखिला पड़ी ।

सीढ़ियों पर धमस सुन पड़ी। पत्नी धपधपाती हुई ऊपर आ रही थी। वह उठ कर बैठ गया। ऊपर आते ही उनकी नजर पड़ गई—बोली, "वहाँ क्यों बैठे हो?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही।"

वे निकट चली आयी—"क्या खुसुर-फुसुर चल रही थी? बुढ़िया बड़ी चार-सौ-बीस है..."

"दूध गिर गया।" उसने दूसरी ओर देखते हुए कहा।

"गिर गया?" वे चौंक कर अँगीठी की ओर देखने लगी।

"जल्दबाजी मे हाथ से पतीली छूट गयी।"

"थोड़ा-सा भी नहीं बचा है?"

"होगा बचा, मैंने देखा नहीं।"

वे अंगीठी की ओर चली गयीं। पतीली को हिला-डुला कर देखा। बोलीं, "हाय राम अब क्या करूँ? उसमें तो पीने लायक दूध बचा ही नहीं।"

"मुझे रात को दूध पीने की आदत नहीं है।" उसने कहा और उठकर टहलने लगा।

पत्नी ने घूर कर देखा, जैसे कह रही हो, 'आदत न होने से क्या होता है?'

टहलते हुए वह छत के कोने में निकल गया, जहाँ बाँसो की छाया मे अन्धकार और भी गाढ़ा हो रहा था। हरी-हरी पत्तियों के झुरमुट में इक्के-दुक्के जुगनू दमक रहे थे। नीचे दूर-दूर तक बाँसों के भीतर अँधेरा ही अँधेरा और उसी तरह दमकते जुगनू। उसने हाथ बढ़ाकर एक जुगनू को पकड़ना चाहा तो वह झट से लोप हो गया और कुछ दूर पर फिर दप-से चमक गया। उसे याद आया—किस तरह बचपन में ढेर-सारे जुगनू पकड़ कर वह अपने घुँघराले बालो मे फँसा लेता और माँ के पास दौड़ा-दौड़ा जाकर कहता—"माँ, माँ, इधर देखो, जुगनू का खोता।"

"नींद नहीं आती?"

उसने घूमकर देखा—पत्नी पास ही खड़ी थी।

"रात बहुत चली गयी है। थोड़ी ही देर में गंगा नहाने वालियों के गीत सुनायी पड़ने लगेंगे।"

"हाँ, ठीक है।" उसने घड़ी देखी, "बारह बज गए।" वह आ कर पलंग

पर लेट गया।

पत्नी आकर पायताने बैठ गईं। अब उसने देखा। उन्होंने सफेद रेशमी साड़ी पहन रखी थी। बदन पर बस चोली भर थी। बाल खूब खींच कर बाँधे हुए थे और हाथों की चुड़ियाँ रह-रह के पंखा झलते वक़्त खनक जातीं।... पूरब की ओर लाल-लाल चाँद उग रहा था और बरगद के सघन पत्तों के बीच से चाँदनी का आभास लग रहा था। आसमान और भी गहरा नीलवर्ण और सप्तर्षि काफ़ी ऊपर चढ़ आए थे।

"गरमी नहीं लगती ?" वह खिसक कर पलंग की पाटी पर बीच-बीच में आयीं। एक हाथ उसकी कमर के पार से दूसरी पाटी पर रखती हुई वे एकदम धनुषाकार झुक गयीं और दूसरे हाथ से पंखा झलती रहीं। वह करवट घूम कर उन्हें देखने लगा। भरी-भरी सी गदबद देह। गरमी का मौसम होने पर पेट और बाँहों पर लाल-लाल अम्हौरियाँ भर आयी थीं।

"लाओ, कुरता निकाल दूं। इतनी गरमी में कैसे पहने रहते हो ये कपड़े ?" वे उठकर सिरहाने की ओर चली आयीं। तकिया एक ओर खिसका दिया और उसका सिर हाथों से उठाती हुई बोलीं, "जरा उठो तो।"

वह उठ कर बैठ गया। बाँहें ऊपर कर दीं। उन्होंने कुरता निकाल कर एक ओर रख दिया। फिर बनियान निकाल दी। हल्के प्रकाश में उसका सोनल बदन दीखने लगा। पत्नी पीठ सहलाती रहीं, थोड़ी देर। फिर बाँहें। फिर कंधे पर ठोढ़ी रखकर टिक गयीं। बोलीं, "इतने दुबले क्यों हो ? क्या शहर में खाने को नहीं मिलता ?"

"जी, ठीक तो हूँ। दुबला कहाँ हूँ।"

"हो क्यों नहीं ? क्या मैं अन्धी हूँ ?" वे और सट आयीं।

"माँ," उसने फुसफुसा कर इशारा किया—"बैठी हैं।"

जैसे किसी ने चिकोटी काट ली हो, पत्नी झट से सीधी हो गयीं। फिर बोलीं, "वो ? वो कुछ नहीं समझतीं।"

फिर भी वे उठीं और जाकर बुढ़िया को दूसरी करवट फिराकर लिटा दिया। बुढ़िया चुपचाप लेट गयी।

लौट कर वे पलंग की पाटी पर अध-बीच में ही बैठ गयीं और पंखा झलती रहीं। चाँद ऊपर चढ़ आया था और सारा आसमान धूसर रोशनी से भर आया

था। छत में दूसरी छतें, पीछे की ओर का बगीचा, तथा बरगद का दरख्त रोशन हो उठे थे। वातावरण कुछ नम पड़ गया था और दूर से मधूक पक्षी की आवाज सन्नाटे को रह-रह के चीर जाती...

"जरा एक ओर खिसको न..."

"नींद आ रही है ?"

"हूँ।"

"कितने बज रहे हैं ?"

"एक।" उसने अंधेरे में घड़ी देखी और जम्हाइयाँ लेने लगा।

"तुम्हारी छाती पर एक भी बाल नहीं है।" उन्होंने अपना सिर रख दिया। पल्ला नीचे डाल दिया।

"... .. .."

"प्यार कर लूँ ?"

"जी।"

जैसे कोई झाड़ी में छिपे हुए खरगोश को पकड़ने के लिए धीमे-धीमे कदम बढ़ाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी तरह उन्होंने कान के पास मुँह ले जा कर एक-एक शब्द नापते हुए कहा—"मैं... कहती... हूँ—प्यार कर लूँ ?"

उसने हाथ के इशारे से फिर भी अपनी नासमझी जाहिर की।

"धत्।" वे मुस्करा पड़ीं, कुहनी तकिये से टिका कर हथेलियों पर अपना सिर रख कर ऊँची हो गयीं। एकाएक उनके चेहरे का भाव एकदम बदल गया। बोलीं, "इतना अत्याचार क्यों करते हो ?"

वह कुछ कहने ही जा रहा था कि कुकड़ूँ कूँ, कुकड़ूँ कूँ करती हुई ढेर सारी मुर्गियाँ, छत पर इधर-उधर दौड़ने लगीं—डरी और घबरायी हुई-सी। दो-तीन मुर्गे एक ही साथ बाहर निकल आए और उनमें से एक ने खूब ऊँची आवाज में बाँग दी— "कुकड़ूँ कूँ ..." एक झटके में वे दोनों उठ कर बैठ गए। छत के कोने में एक ओर मुर्गियों का दरबा था। देखा, बुढ़िया ने दरबा खोलकर सारी मुर्गियों को बाहर निकाल दिया है और चुपचाप खड़ी मुस्करा रही है। कभी हल्के-से खिलखिला पड़ती है। एक अजीब-सी दहशत में उसे पसीना आ गया। तभी बुढ़िया ने एक ईंट का टुकड़ा उठाकर मुर्गियों के झुण्ड की ओर फेंका मुर्गियों में फिर खलबली मच गयी और वे त्रस्त और निरुपाय इधर-उधर भागने

लगीं। एक मुर्ग़ा छत की मुंडेर पर जा बैठा और फिर उसने ज़ोर की बांग लगाई—"कुकड़ूँ कूँ..."

वह उठने को ही था कि पत्नी झुंझलाती हुई उठ खड़ी हुई। रेशमी साड़ी कुछ-कुछ खिसक गयी थी। जल्दी में उन्होंने साड़ी पेटीकोट से खींच कर पलंग पर डाल दी और बुढ़िया के पास चली गयीं। बुढ़िया उसी तरह खिलखिला कर हँस पड़ी। पत्नी ने होंठ काटे, फिर कुछ कहना चाहा, फिर व्यर्थ समझ कर चुपचाप बुढ़िया की बांह पकड़ ली और घसीटते हुए खाट पर ले जाकर पटक दिया।

"लेटो।" पत्नी का गुस्सा उबल पड़ा।

बुढ़िया उसी तरह उकडूँ बैठी रही।

पत्नी ने उसे हाथों में खाट पर पसरा दिया।

बुढ़िया फिर भी उसी तरह ताकती रही।

पत्नी एक पल खड़ी रहीं, फिर घूमकर उसकी तरफ देखा।

दोनों दौड़-दौड़ कर मुर्ग़ियों को पकड़ने में लग गए। धीरे-धीरे सारी मुर्ग़ियाँ दरबे के अन्दर हो गयीं लेकिन एक मुर्ग़ा छत की मुंडेर के आखिरी सिरे पर बैठा हुआ था। उसने एकाध बार हाथ बढ़ा कर उसे पकड़ना चाहा तो वह और आगे की ओर खिसक गया। उसने कहा, "इसको क्या करें ?"

"रांध कर खा जाओ।" पत्नी झुंझलाती हुई फ़र्श पर बैठ गयी।

लेकिन तभी जाने क्या सोचकर मुर्ग़ा नीचे उतर आया। उसने दौड़कर उसकी गरदन पकड़ ली और दरबे में ले जाकर ठूँस दिया। फिर जैसे चैन की सांस लेता हुआ मुंडेर से टिक कर खड़ा हो गया। एकाएक उसकी नज़र बुढ़िया की ओर चली गयी। वह चित लेटी हुई आसमान की ओर ताक रही थी। तभी पत्नी ने उठते हुए आवाज़ दी—"अब वहाँ क्या करने लगे ?"

वह निकट चला आया, बोला, "सुनो, बरसाती में पलंग ले चलें तो कैसा रहे ?"

छत पर सादे खपरैल से बनी एक बरसाती थी। पत्नी ने कहा, "मैं नहीं जाती बरसाती में। इतनी गरमी में उस काल-कोठरी में मुझसे नहीं सोया जायगा।"

"पंखा तो है ही।"

"पंखा जाये भाड़ में। रात भर पंखा कौन झलेगा ?"

"मैं भल दूँगा ।" वह मुस्कराया ।

"चलिए ।"... पत्नी ने सिर झटकते हुए कहा । वे खुश मालूम दे रही थीं। एकाएक घूम कर उन्होंने कहा, "अच्छा, एक काम करती हूँ.. " वे उठ खड़ी हुई । बोलीं, "इनकी चारपाई जरा बरसाती मे ले चलिए तो ।"

"क्या कह रही हैं आप ? माँ की तबियत नही देखती ।"

"ले तो चलिए । इन्हे गरमी-सरदी कुछ नही व्यापती । अब की माघ के महीने मे बाहर नदी के किनारे लेटी थीं । लोग गये तो और हँसने लगी ।"

"अरे भाई..."

"क्या लगाए है अरे भाई, अरे भाई ! रात-भर इसी फरफन्द मे . " उन्होने बुढिया को उठाकर खड़ा कर दिया और चारपाई उठा ली ।

"अब यही आराम से पड़ी रहो महारानी ।" पत्नी ने नजाकत के साथ बरसाती के दरवाजे पर खड़े-खड़े दोनों हाथ जोड़े और उसकी ओर देखकर मुस्करायी । खाट पर लिटाते वक्त बुढिया ने एक बार अंधेरे में चारो ओर नजर डाल कर टटोला था और तक़रीबन दो मिनट तक लगातार खाँसती रही । फिर जैसे चुप खो-सी गयी । चाँदनी उजरा चली थी और आसमान से हलकी-हलकी नमी उतर कर चारों ओर वातावरण पर छा रही थी । बरगद की ऊपरी डालों से भी अगर कोई पत्ता टूट कर नीचे गिरने लगता तो उसकी खड़खड़ साफ़ सुनायी पड़ जाती ।

"मुझे प्यास मालूम दे रही है. ऊपर पानी होगा क्या ?" उसने कहा ।

पत्नी ने झुक कर उसकी आँखो में देखा और मुस्करायीं—"प्यास लगी है ?"

"हाँ ।"

"सच ?" वे उसी तरह आँखो मे देखती रहीं ।

उसे थोड़ी-सी झुँझलाहट महसूस हुई । फिर उसे दादा का खयाल आया । फिर जैसे सिर घूमने लगा और मतली-सी महसूस हुई । फिर ढेर-सी बातें मन में घूमने लगीं —जैसे दिमाग में कई कदम लड़खड़ाते हुए चल रहे हों । उसने सोचा —'नरक ।' फिर उसके दिमाग में आया, 'क्यो इतना विवश हो गया है वह ?' फिर तर्क पर तर्क ..कौन समझ सकेगा कि इतना आवेग-शून्य क्यों है वह ? ..फिर जैसे भीतर-ही-भीतर कहीं झनझनाता हुआ-सा दर्द उठने लगा।

उसे लगा कि उसकी पीठ में चटक समा गया है और सांस लेने में कठिनाई हो रही है। उसने करवट बदल कर यह जान लेना चाहा कि कहीं सचमुच तो पीठ में चटक नहीं समा गया कि तभी पत्नी ने बाहों में भर कर उसे अपनी तरफ़ घुमा लिया। कहीं कुछ बात बढ़ न जाए, इसलिए उसने अपनी भावनाओं पर ज़ब्त करना चाहा। इसी प्रयत्न में वह मुस्कराया, लेकिन उसकी एक आँख से एक बूंद ढुलककर चुपके से बिस्तर में गुम हो गयी।

"पानी दूं ?"

वह परिस्थिति भांप चुका था और उन बातों में रस आने के बजाय उसे इतना थोथापन महसूस होता कि उसकी इच्छा होती कि वह कानों में उँगली डाल ले या जोर से चीख़ पड़े। लेकिन यह कुछ भी नहीं हो सका। बोला, "जी मेह-रबानी करें तो एक गिलास पानी पिला ही दीजिए।"

पत्नी झुकीं तो उसने अपना चेहरा तकिये में गड़ा लिया।...फिर जैसे वह पस्त पड़ गया। अब तक जितना चौकन्ना था अब उतना ही ढीला पड़ गया।

एक हाथ से वे उसकी छाती सहलाती हुई बोलीं, "कैसे-कैसे कपड़े फ़िज़ूल में पहने रहते हो..." और उसके बाद क्षण भर में ही वह सारी परिस्थिति भाँप कर एकदम पसीने-पसीने हो गया। आँखें मूंद लीं। उसके माथे की नसें फटने लगीं। खून में आग सी लग गयी। स्वर ओझल हो गए। वे कुछ कह रही थीं —"मेरे बालम ! कितने ज़ालिम हो तुम ! कितने भोले..."

"माँ !" वह उछल कर एक झटके से खड़ा हो गया। लेकिन तुरन्त शर्म के मारे वहीं-का-वहीं सिमट कर फ़र्श पर बैठ गया। पत्नी भय के मारे एकदम फक् पड़ गयीं। एक पल बाद, ज़रा-सा सुस्थिर होकर उन्होंने मुँह ऊपर उठाया तो देखा—बुढ़िया ठीक सिरहाने खड़ी थी, चुपचाप। पत्नी को अपनी ओर देखता पाकर वह फिर मुस्करायी। अब उनका गुस्सा उबल पड़ा। तेज़ी से उठ कर उन्होंने बुढ़िया की बाँह पकड़ ली। उनके होंठ दाँतों तले दबे हुए थे और वे कांप रही थीं।

"चल...हट यहाँ से।" उनके मुँह से कोई भद्दी गाली निकलते रह गयी और उन्होंने बुढ़िया को आगे की ओर धकेल दिया।

आगे ईंटों का एक घरौंदा था। बच्चों ने, शायद दिन में अपने खेलने के लिए बना रखा था। बुढ़िया को ठोकर लगी और वह औंधी-सी लुढ़क गयी। पत्नी

गुस्से में झनझनाती हुई उसे उसी तरह छोड़कर, खाट पर आकर बैठ गयीं और दोनों हाथों में उन्होंने अपना सिर थाम लिया।

यों ही दो-एक मिनट बीत गए। कोई कुछ नहीं बोला। अचानक उसने बुढ़िया की ओर देखा। वह वैसी ही औंधी, फर्श पर पड़ी थी वह तेजी से उठकर लपका उस ओर—"माँ!"

उसने बुढ़िया को उठा कर चित कर दिया। लहू की एक हल्की-सी लकीर होंठों के कोनों में दिखायी दी और फिर एक हूल-सी उठी। उसके होंठ हिल रहे थे ..

"जल्दी से दौड़ कर पानी लाओ।" उसने चीख कर पत्नी की ओर देखा।

पत्नी उठकर भागी नीचे।

बुढ़िया की आंखें खुली थीं। चेहरे की झुर्रियाँ और भी चिकनी हो गयी थीं। चाँदनी में उसका चेहरा एकदम उजली राख की तरह चमक रहा था। उसने पुकारा, "माँ..." और बुढ़िया का सिर बाँहों में थोड़ा और ऊपर कर लिया। बुढ़िया ने सिर जरा-सा उसकी ओर घुमाया और फिर हलक से खून का एक रेला, उसकी गोद में कै कर दिया।

सपाट चेहरे वाला आदमी

ठीक उसी समय दो पेड़ों के बीच से आसमान के एक छोटे से नक़्क़ाशी-दार टुकड़े के बीच दीखा—डूबते सूरज का किरणहीन लाल-लाल गोला। एकदम आग की दमक लिये, जिसके चारों ओर बरस कर खुल गये बादल टेढ़े-मेढ़े, किसी टूटे पर्वत की आउट-लाइन बनाते हुए लेटे थे। पत्तों से बूंदें झर जातीं हवा की हिलोर में और एक-दो पंछी अपने गीले पंख निचोड़ते-से बैठे हुए दीखे—ठीक उसी समय।

पहले तो जैसे मुझे अनदेखा दिखा दिया गया हो—एकदम अविश्वस्त और प्रत्यक्ष। इस विस्मय से चुप खड़ा रह गया। नींद से उठा हुआ-सा या किसी नयेपन में नहाया हुआ-सा—स्तब्ध। फिर मैंने पीछे मुड़कर देखा। शहर से पार बहुत दूर सूनी काली सड़क और दोनों महुए के झांझर पेड़—कांच से भरे हुए। बसन्त की बारिश। एकबारगी सूनी सड़क। बहुत पीछे एक बैलगाड़ी चली आ रही थी। और आगे मेरे खुश होने और उसे व्यक्त करने में कोई बाधा नहीं थी। मैंने हल्के-हल्के और फिर तेज़ सीटी मारी और तेज़ चलते-चलते दौड़ने लगा। सूरज का गोला मेरे साथ-साथ झांझर पेड़ों को लांघता चला आ रहा था। एक नीलकंठ हवा में पंख मार रहा था मेरे साथ-साथ। काफ़ी दूर दौड़ते एकाएक मैंने देखा कि टीले की आड़ में सूरज का गोला छिप गया। मैं आगे बढ़ गया। इस आशा में कि टीले को पार कर हम फिर मिलेंगे। लेकिन सूरज डूब गया था और क्षितिज से एक स्याह लालिमा उठकर पेड़ों से लेकर बादलों तक में रम गयी थी। मैं थक गया था और मेरा विस्मय, मेरा चुप और वह सुख न जाने कहां खो गया। मेरा सवाल, जिसे जेब में दाबे दौड़ा चल रहा था, निकल कर चलने लगा मेरे साथ-साथ। मैं इतना उदास हो गया जितना पहले कभी नहीं हुआ था।

ठीक है, मैंने अपने से कहा था—'जब कहीं कुछ नहीं है, तो फिर इस

सवाल का कोई न-कोई हल आज निकल ही आना चाहिए। इस तरह की स्थिति में नहीं रहा जा सकता। रहना सम्भव नहीं है।' मेरा अपनापन खुद इस नीरसता से घबरा गया था। इधर या उधर। बस। कभी बहुत पहले मैं एक नोटबुक रखता था। दिन-भर थकने, ऊबने और खुश होने के बाद मैं वे सारी बातें उसमें लिख लेता। वह मेरे लिए अजब-सा संतोष था कि मैं अपने को एक विचारक की कोटि में रखता था। अपने अनुभवों की ताजगी मुझे भर देती। विचारक होने से मुझे क्या मिल जाता, यह तो नहीं मालूम लेकिन सोचता हूँ यह भावना ही मुझे खुश रखने के लिए बहुत थी। मैं नहीं जानता कि तब कोई दुःख था जैसे कि आज भी नहीं है। यह भी सम्भव है कि मैं दुख-सुख की अवस्था ही भूल गया होऊँ। या उसकी पहचान ही न हो मुझे। लेकिन सुख यदि सबलता का नाम है तो मैं तब भी और आज भी सुखी होने के अलावा कुछ नहीं हूँ। मेरी सबलता इस अन्तिम नीरसता में भी उसी तरह फैली हुई बैठी है।

हाँ, तो वह भी खत्म हो गया। मुझे उस उत्साह से भी ऊब हो गई। वही कुछ ऐसा था जिसकी चाह में मुझे सब कुछ निरर्थक लगने लगा। मेरे आगे-पीछे जो सुख का रहस्य जाल था, वह और ढापता गया मुझे। मैंने कहा 'इसमें क्या होगा ?' फिर मैंने अपनी नोटबुक बन्द कर दी। वह नीरसता मेरे चारों ओर लिपट गई। मैंने कहा—'इस तरह जीवित रहने का अर्थ ? इस सुख में, जो कहीं किसी के निमित्त हो भी, अपने को कुछ नहीं देता।' जैसे मैंने खुद जीवन का गला घोट दिया और अपनी इस क्षमता पर शेखी बघारता हुआ, सड़कों, नदियों और समुद्रों के वक्ष पर खेलता रहा। जीने के लिए क्या था ? क्यों नहीं था ? यही था वह रहस्य-जाल। वह पीड़ा, जो गुमनामी है। वह मारक व्यथा, जिसका नाम नहीं है। कि मैं क्यों जिन्दा रहूँ ? मैंने सोचा शायद मुझे कोई मानसिक रोग है। मैंने वेद से लेकर काम-सूत्र तक पढ़ डाला। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' से लेकर मोरेविया की 'द वुमन आव रोम' तक। मीनाक्षी और पुरी से लेकर खजुराहो तक देख डाला। मनोविज्ञान के एक-एक सिद्धान्त पर अपने को घिसता रहा। अन्त में हार गया। मेरा सवाल ज्यों-का-त्यों था। कुछ ने कहा 'जीना एक विवशता है। तुम सोचते हो इसलिए परेशान हो। मत सोचो, खुश रहोगे।' मैंने कहा, मुझे नहीं मालूम कि अब मैं सोचता

भी हूं।' उत्तर मुझे नहीं ही मिला। मुझे लगा कि यह सब पलायन है। समाज, नीति, आचरण, कर्तव्य, ज़िम्मेदारी—सब। क्योंकि आदमी इस अन्तिम सवाल से भागता है। मुझे यह भी लगा कि आज तक जितनी किताबें लिखी गयी हैं, जितने आर्ष-वाक्य कहे गये हैं, उनमें मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा। जो पुस्तकालय जला दिये गये, जो ऋषि गूंगे होकर मर गये वे मुझसे कुछ भी नहीं कहते। जो किताबें किसी ताबूत में रख कर गाड़ दी गई वे भी अगर खोदकर लायी जायं तो कोई जवाब नहीं देंगी। और यह भी कि भविष्य में जो आविष्कृत होगा, जो खण्डित होगा और जो बचा कर सार रूप में सामने रखा जायेगा, जो किताबें लिखी जायेंगी, वे भी मुझे जवाब न दे सकेंगी। इसके भी आगे मुझे मालूम था कि जो मौन में मर जायेगा, जो नहीं लिखा जायेगा, वह भी इसका उत्तर नहीं है।

तब ?

मैं एक डाक्टर से मिला। वह मेरा मित्र था। उसने परीक्षा की। बोला, "तुम तो बिल्कुल स्वस्थ हो। तुम्हारे मस्तिष्क में कोई खराबी नहीं। दिल कमज़ोर नहीं है। हाँ खून गर्म है, इसीलिए यह परेशानी है।"

"मतलब ?" मैंने पूछा।

"मतलब, कि ज़रूरत से ज्यादा स्वस्थ हो।"

"तो क्या अपने को अस्वस्थ बना लेने से यह सब ठीक हो सकेगा ?"

उसने कहा, "कह नहीं सकता। लेकिन अस्वस्थ होंगे कैसे ? तुम्हें कोई चीज सता नहीं सकती। किसी के मरने पर दुःख होगा नहीं। खुद मरने का भय नहीं है तुम्हें। बस एक ही दवा है—अपना स्वास्थ्य गिराओ। जब स्वास्थ्य खराब हो जायेगा तो अपने-आप मानसिक तनाव केन्द्रित हो जायेगा, शिथिल और कमज़ोर शरीर में। एक बार स्वास्थ्य खोकर फिर पाने की लालसा जीवन के हर सवाल का अन्त कर देती है।"

"इसके विपरीत कुछ हुआ तो?" मैंने कहा।

डाक्टर मुस्कराता रहा, मानो कह रहा हो "इसके विपरीत तो यह होगा कि तुम जीवन को अन्तिम उपलब्धि मान लोगे।"

यह सब सरासर बेवक़ूफ़ी ही थी। फिर भी सोचा, करके देख लूं। तब सब कुछ अनियमित। कुछ ही दिनों में वज़न कम हो गया। चेहरा सूखने लगा। अपने

को देखकर घिन-सी लगने लगी। भूख-प्यास की पहचान भी भूल गई। खूब प्यास लगने पर यही लगता कि कुछ चाहिए। क्या इसकी पहचान न कर पाता फिर यदि एक गिलास पानी पी लिया तो पहचान हुई कि यह प्यास लगी थी। यही हाल भूख का था। आँखों में थकान भर आयी। मन शान्त होकर कोलाहल से भरने लगा। डाक्टर के यहाँ पहुँचा, बोला, "मेरा सवाल ज्यों-का-त्यों है, बल्कि मेरा कोलाहल शान्त होकर उभर आया है और ज्यादा। शरीर की थकान और कमजोरी से कुछ अच्छा नहीं लगता है। यह दूसरा योग है मेरी नीरसता में। बूढ़ा होने की स्थिति से कुछ घिन-सी जरूर लगती है, लेकिन तुम जानते हो मुझे देह से कोई ममता नहीं है।"

डाक्टर थोड़ी देर तक मेरा मुँह ताकता रहा। बोला, "बहुत दुबले हो गये हो।" मैं चुप ही रहा।

वह उठा और अन्दर चला गया। थोड़ी देर में लौटकर आया तो बोला, "चलो बँगले में चल कर बैठें।"

बँगले आकर काफी देर चुप्पी रही। मैं उसके कमरे की पीली दीवारें निहारता रहा। एकाएक नजर उचट गई तो देखा डाक्टर मेरी ओर एकटक देख रहा है। पूछा, "क्या बात है?"

वह अपनी ठुड्डी हथेली पर रखे हुए उसी निर्विकार भाव से बोला, "तुम रो सकते हो?"

मुझे हँसी आ गयी, "खूब-खूब," मैंने कहा, "यही रोने को है क्या? वैसे भी मैं रो नहीं सकता। नहीं रो सकता। पहले एक बार... या उन दिनों करीब-करीब रोज़ही रोया करता था।"

"हाँ... एक बच्ची को देखकर। उसे सूखे का रोग था। एकदम पतली त्वचा में से उसकी नसों का नीला खून तक चलता हुआ दीखता था। जब वह हँसती थी तो लगता था रो रही है। उसका चेहरा फैल जाता बेतरह। छः महीने की उम्र में ही उसकी झुर्रियाँ अस्सी साल की बुढ़िया से भी बढ़ गई थीं। वह नींद में अजीब ढंग से कराहती थी। जब उसकी माँ उसे पालने में लिटाकर पढ़ाने चली जाती तो मैं चुमकारा करता। वह बड़ी शान्त और गम्भीर और निर्विकार रहती...। आँखें खोले जैसे कुछ न देखती हो। वह रोती बहुत कम थी। बड़ी देर चुमकारने पर जो कभी मुस्कराती तो लगता जैसे रो रही है। मुझे उसकी यही

हालत देखकर रुलाई फूट पड़ती। वह मेरे आँसू देखती और करवट उलट कर हाथ पैर डाल देती। फिर... एक दिन वह मर गई। मरने के उस क्षण में उसकी जीवनी शक्ति का अन्दाज लगा मुझे। जैसे पत्थर के दो पाटों के बीच चँप गया आदमी बेतरह निकलने की कोशिश करे और निकलते-निकलते ऐंठ जाय। मरने के बाद उसकी माँ घण्टे भर रोई। शाम को पति के साथ सिनेमा गई और रात को दो बजे तक बातें करती रही। सुबह उस पालने को ऊपर डाल दिया गया... आने वाले दूसरे बच्चे का इन्तजार करने के लिए।,,

"अच्छा-अच्छा यह सब बन्द करो।" डाक्टर कुछ हतप्रभ, कुछ-कुछ खिझलाया हुआ-सा बोल उठा। अपने दोनों हाथों में उसने अपना सिर थाम लिया। नीचे देखते हुए उसने अपनी बात आगे बढ़ाई, "रो नहीं सकते, किसी के मरने पर दुखी नहीं हो सकते, कहीं चले जाकर, किसी चीज को खो देने के बाद तुम्हें कुछ नहीं होता, . क्या हो सकता है ? तुम्हारे लिए कोई राह नहीं है।"

"अच्छा, एक बात बताओ," उसने जरा देर रुक कर पूछा..."सब कुछ जानते हुए भी किसी औरत से तुम प्रेम नहीं कर सकते ?"

"कर सकता हूँ, लेकिन कोई औरत विश्वास नहीं करेगी। वह मेरे प्यार से ऊब जायेगी। यदि मैं बहुत ज्यादा लीन हो गया...बिलकुल केन्द्रस्थ, तो वह न जाने क्या से क्या समझ बैठेगी। भावुक, सस्ता या कामी। फिर उसके मन में मेरे प्रति दया भर सकती है या नफ़रत। और अगर मैंने उसकी भावनाओं पर कोई प्रतिक्रिया जाहिर न की तो वह मुझे ठण्डा समझ लेगी। यह भी अनुमान लगायेगी कि मेरा मन कहीं और है। इसका जवाब औरतें किस रूप में देती हैं, उससे तुम क्या वाक़िफ़ नहीं हो ? तब तुम्हीं बताओ किया क्या जाय ? उनके साथ निबाह में अपने को बिलकुल उनकी इच्छा पर नहीं छोड़ सकता और... मान लो छोड़ ही दूँ तो भी इसकी क्या गारंटी है कि वे मुझे समझ सकेंगी या उससे मेरे जीवन को दिशा मिल ही जायेगी। उस स्थिति में भी औरतें कुछ-का-कुछ अर्थ लगाने लगती हैं। कायर पारोपजीवी, सस्ता, स्त्री-भक्त, न जाने क्या-क्या; और फिर औरतों की मनमानी...वह तो तुम जानते ही हो।"

"मान लो, ठीक इसके विपरीत हो। कोई औरत ऐसी हो जो पूर्णतया अपने को तुम्हारी इच्छाओं पर छोड़ दे। तुम्हारी भावनाओं का आदर करे। तुम्हारे सब-कुछ के प्रति लीन हो। और ऐसा वह जानबूझ किसी विवशतावश न करके

अपनी अन्तरात्मा से परिचालित हो कर करे, तो ?"

"तो ?" मैं कुछ सोच नहीं सका। मुझे लगा, डाक्टर एकदम मीडियाकरों की तरह बातें कर रहा है।

"तो वह तुम्हारी इस अन्तिम नीरसता का उत्तर होगी।" डाक्टर मुस्कराता हुआ उठ खड़ा हुआ और तुम्हें अगर ऐसी औरत न मिले तो तुम्हारे लिए एक ही रास्ता शेष है। मेरे पास आकर जहर ले जाना। बस।"

"यह नहीं कि मैंने नहीं खोजा है," मैंने कहा, "यह भी नहीं, कि खोजने पर कुछ नहीं मिलता। कुछ तो मिल ही जाता है लेकिन डाक्टर। यह नीरसता, यह अनन्त दुख-भाव, तुम्हारे शब्दों में कहूँ तो यह अतिरिक्त स्वास्थ्य कोई गुण नहीं है जिस पर औरतें रीझ सकें। यह उन्हें कुछ नहीं देता। ऐसा कुछ भी नहीं जिसकी वे माँग करती हैं। मसलन पालतूपन। और दुनिया मे जब हर औरत को कोई-न-कोई पालतू पुरुष मिल ही जाता है तो वे मेरे और मेरे जैसे लोगों की ओर ध्यान ही क्यों देने लगी ? अगर तुम यह कहते हो कि औरत के सबसे *महत्त्वपूर्ण अधिकारी मेरे जैसे लोग होते हैं तो यह समझ लो कि सुशील औरतें* हमेशा अनधिकारियों के पास रहती है। औरतें ही क्या, दुनिया की हर सुविधा अनधिकारी लोगों के पास होती है। लक्ष्मी आजकल पुरुष-सिंहो के पास नहीं, पुरुष-सियारो के पास ही रहना पसन्द करती है। खैर छोड़ो," मैंने उठते हुए उसका कधा थपथपाया और बात के भारीपन का स्तर बदलना चाहा—"ऐसा करें कि हम एक ट्रेनिंग-स्कूल खोलें, जहाँ स्त्रियों को यह नयी ट्रेनिंग दी जा सके और उन्हें नये स्वभाव के लिए तैयार किया जा सके।"

"और कहीं ट्रेनिंग देते-देते हमीं न ट्रेनिंग लेने लग जायें," डाक्टर ने कहा। इस पर हम दोनो ठटाकर हँस पड़े, गो कि हँसते-हँसते हम और भारी हो गये थे। हम एक-दूसरे से चिपटकर चुप हो गये थे — जैसे यह कह रहे हो कि हम हर समस्या के बाद खड़े हैं। क्या करें।

मेरे पुराने घर की दूसरी मंजिल मे एक मुर्गी चाची रहती थी। उसके कोई नहीं था। उसने ढेर सारी मुर्गियाँ पाल रखी थी। यह उसका अजीब शौक था। लोग बताते थे, कभी उसे कुत्ते पालने का बहुत शौक था। कुछ दिनो के बाद मुर्गी चाची को लड़के बिल्ली चाची कहने लगे। हमने देखा कि उसने कई किस्म की बिल्लियाँ पालनी शुरू कर दी हैं। बिल्ली चाची जाड़े के दिनो मे अपने चेस्टर

की जेब में छोटे-छोटे बिल्ले भर लेती जैसे कंगारू अपने पेट की थैली में अपने बच्चे भर लेता है। फिर जहाँ बिल्ली चाची बैठती या घूमते-घूमते थककर खड़ी हो जाती, बिल्ले फुदककर उसकी जेब से बाहर आ जाते और घास पर, कुर्सी पर, मेज पर बैठकर टुकुर-टुकुर अपनी मालकिन का मुंह देखने लगते। बिल्ली चाची एकदम अजनबी-सी उन्हें देखती और उठाकर जेब में भरती फिर अपनी छड़ी टेकती चल देती।

मेरे सवाल वैसे ही ज्यों-के-त्यों जेब में पड़े-पड़े झांकते रहे।

बाहर निकलने पर मुझे ख़याल आया कि डाक्टर को एक बात बताना मैं भूल गया। और यह बात याद आयी तुरन्त घर से बाहर निकलते ही। भारी-भारी मन लिये डाक्टर मुझे दरवाज़े तक छोड़ने न आकर भीतर सोने के कमरे की ओर चला गया। शायद वह बहुत थक गया था और लेटना चाहता था। मैं ज्योंही उसके घर से बाहर निकला कि अँधेरे में झमाझम बारिश। चारों ओर घने सान्द्र मेघ, कहीं कोई चित्ती नहीं, मिश्र रंग नहीं, कहीं कोई सितारा नहीं। खाली सफ़ेद जल में डूबते हुए सड़क के किनारे के पेड़। मैंने लौटने की कोई इच्छा ज़ाहिर न की। चुप बारिश में हो लिया और डाक्टर के घर से सड़क तक आते-आते एकदम सराबोर। तब नवम्बर था और मेरी सारी देह ओवर-कोट में काँप कर फिर थिर हो गई। घने अन्धकार में मुझे अपने जूते की आवाज़ और सड़क के घावों में भरे जल की छप-छप अत्यन्त प्रिय लग रही थी। उस वक़्त मुझे इस बात का तनिक भी ख़याल नहीं था कि मैं किस मन से आया था, विदा लेते वक़्त अपनी हँसी के अभिनय से हम बिथकर किस तरह एकाएक चुप हो गये थे। ना, कहीं कुछ नहीं था। मेरे आगे और पीछे और ऊपर और नीचे बरसते हुए जल का शोर था—पेड़ों पर बजती जल की बूँदों का शोर, एनीमल हस्बैण्डरी की टिन की छतों पर बजती बारिश का अनवरत शोर। और इन्स्टीट्यूट के कर्मचारियों के छोटे-छोटे ख़ुशनुमा बँगले—खेल का मैदान, बैचलर्स होस्टल और कैफ़ेटेरिया और—सभी बारिश में गुम—और मैं स्वयं गुम। एक बार मेरी इच्छा हुई कि लौट कर डाक्टर को पकड़ लाऊँ और ऊँचे-ऊँचे बूट

पहन कर हम लोग साथ-साथ बारिश में गुम दौड़ते रहें । लेकिन मुझे मालूम था, डाक्टर इसे भी एक पागलपन कहकर टाल देगा ।

अब कभी-कभी सोचता हूँ तो लगता है कि मैं इसी एक चेहरे के सहवास में जन्म से ही था। बिलकुल अकेले, गुमसुम और उद्वेलित, घुमड़ता हुआ। बारिश के इसी चेहरे के साथ, जल के उफान और उसकी चादरों में लिपटा, नदी की धार में समोया, पेड़ों, लताओं हरियाली खेतों, काई लगी दीवारों, खंडहरों में उगी जलघासों के फूलों, जलकुम्भियों के बहते हुए चेहरे के साथ । बदलती ऋतुओं, टूटते पत्तों और एकाएक हरे-हरे वृक्षों के सूखते चेहरों के साथ। और वह भी बिलकुल अनजाने । यह तो अब समझता हूँ कि मैं इनके साथ घटित होता रहा हूँ स्वयं । कि मैं हर वस्तु और हर घटना को, जीवन की सभी अग-रिमा और अनीति को ठेलकर, इन्कार कर, उपेक्षा कर, विवश होकर या स्वतन्त्र रूप से हमेशा इस चेहरे से चेहरा सटाये पड़ा रहा हूँ। मैंने कभी जाहिर नहीं किया कि वह चेहरा मेरी जिजीविषा है । शायद जिजीविषा मौन सुख का ही नाम है। जो कहा नहीं जा सकता । शायद जिजीविषा बनी रहती है और उसके स्रोत का ज्ञान हमें बहुत दिन बाद होता है कभी-कभी मरने के दिन तक नहीं होता ।

बचपन में पिता थे जो मुझे फेन-भरी बारिश दिखाते - 'गुलू ! वो देख, बारिश आ रही है ।' उनकी विशाल भुजाएँ जिन पर घने काले बाल थे, बारिश की ओर उठ जातीं जैसे वे बारिश को उँगली में पकड़ कर खींच रहे हों । मक्के के खेत में बीचोंबीच ऊँचा एक फूस का मकान होता । दूर पश्चिम या पूर्व से धीरे-धीरे गाँव-गाँव भमकती, झाग-भरी बारिश की लोच दीखती.. गाँव डुबाती, फिर आम और कटहल के बाग, फिर हरे-हरे खेत, झूमते बबूल और बंसवारियों के कुंज, फिर नदी का वक्ष। खेत के सिरे पर आते-आते मक्के के पौधों पर बारिश का शोर जब सुनाई पड़ता तो मैं ताली पीट-पीट कर चिल्ला पड़ता, 'बारिश आ गई...बारिश आ गई' और क्षण भर में हमारा खेत बारिश की उजली चादर में गुम हो जाता । हम देखते । फिर उसके बाद बारिश का जाना, खेतों, घरों, बगीचों का धुल-धुल कर गहराते हुए फिर-फिर उगना .

ऐसा कभी-कभी रात में भी होता। जब या तो मैं माँ की गोद में पड़ा-पड़ा जागता रहता, या पिता के साथ फूस के मकान पर होता। माँ को नींद बहुत आती थी। खासकर जब बारिश हो रही हो तो उसे बिलकुल चेत नहीं रहता था। खुली

मेरे बच्चे को डुबा कर रहोगे एक दिन। तुम्हें कोई ममता है, मेरा बच्चा कोई मल्लाह है कि उसे तैरना सीखना है, नाव खेना है, नहीं जायेगा खेत। और इसे," माँ मुझे खड़ा कर देती, "बड़ा बना है बाप वाला नहीं जाना है कल से ...।" माँ एकदम रुँआसी हो जाती। फिर पूरियाँ, मीठे पुए, घी डाल कर औटा हुआ दूध, तरह-तरह के अचार और सब्जियाँ रख देती। पिता अपराधी की भाँति चुप खाने लगते।

लेकिन तब तो मैं अजनबी था। मुझे यह भी मालूम नहीं था कि पिता मेरे लिए एक नाव हैं, माँ का चेहरा, फूलों और बारिश में उफनती नदी का चेहरा है, जिसके भीतर मेरी जिजीविषा बहती रहती है। मैं तब यह जानता ही कहाँ था? शायद महसूस करके जीता था। यह सचेत होकर ही तो आज मैंने वह सब कुछ खो दिया है। यह सचेत हो जाना ही शायद जीवन का अन्त कर देता है। उस अजनबीपन में, जिसमें मैं दिन और रात में लीन था 'जहाँ पर मृत्यु भी मेरे लिए सुखद घटना थी। क्योंकि मैं कभी उससे दुखी नहीं हुआ।

तब, जब एक दिन अचानक गुड़िया (माँ) मर गई। ऐसा कहा गया। अब जानता हूँ कि बुढ़िया ने आत्मघात किया था। कुएँ में कूद कर। तब भी बरसात के दिन थे और आँगन का कुआँ लबालब भरा था। पिता डूब-डूब कर गुड़िया को टटोलते रहे। फिर हताश होकर उन्होंने काँटे लगाये। गुड़िया के कंगन में काँटा लगा और वह बंसी में फँसी मछली की तरह लटकी हुई पानी के ऊपर आ गई। जैसे उसकी आँखें ठण्ड के सुख से भीग कर बन्द हो गई हों। चेहरा वैसा ही गीला और शान्त था जैसा नहाते वक्त होता था। उसे चाक पर घुमाया गया कि पानी फेंक दे। लेकिन तय हुआ कि वह मर गई है। पिता चुप थे। मैं भी चुप था। अर्थी पर गुड़िया के सिरहाने धूप की कटोरी बाँध दी गई। नदी तट पर पिता ने कहा, "गुग्गू, तू दाह करेगा?" मैंने कहा, "हाँ।"

पिता ने जलता हुआ पुरा हाथ में थमा कर कहा, "तिल और गंगाजल के साथ इसे माँ के मुँह में डाल दे।"

यह काम असह्य था। लेकिन मुझे लगता था हमारे साथ कुछ इतना महान घट रहा है, जिसे हमीं कर सकते हैं। यह बहुत बड़ी बात है। माँ का मरण। उसे किसी से नहीं कहा जा सकता। इस अनुभूति में मैं अपने को

और पिता को संसार के अन्य प्राणियों से बहुत ऊँचा समझने लगा। कि ये तुच्छ लोग...इनके बूते की बाहर की बात है...शायद इनके साथ यह घट नहीं सकता। सुख, अभिमान और मौन के उस गर्वीले क्षण में मैंने मां के मुंह में जलता हुआ कुश डाल दिया। उसके होंठ झुलस गये। मुझे लगा कि माँ के होंठों में हरकत हुई है। लेकिन शायद जलते हुए कुश सरक रहे थे।

मृत्यु ने हमें अत्यन्त कठोर बना दिया था। एकदम आदिम और साहसी। कि हम किसी भी कठिनाई को आसानी से पार कर सकते हैं। क्योंकि हमारे साथ एक बहुमूल्य घटना घटी है। मैं बहुत चुप और सुखी था। कि यह मैं ही हूँ, जिसने यह सब जाना है। इसके बाद इसकी आवृत्ति पर आवृत्ति। और मुझे उतनी ही ऊँचाई, उतना ही बड़ा 'चुप' उतनी ही भयावनी अकेली कठोरता, उतना ही अद्भुत साहस, उतना ही अजनबी सुख। हर साल यह बारिश, फिर धूप, फिर बादलों का पेड़ों पर अटकना।

तभी एक दिन लगा कि ना, यह मृत्यु तो सबसे आसान है। किसी के मरने पर सुख, साहस और मौन भाव से जीवित लोगों के प्रति एक उपेक्षा भाव यह सब तो मृतक का अपमान करना है। मुझे लगा कि मैं सदियों की धूप में लटकता एक पत्थर हूँ चिकना-चिकना, जिस पर कोई चढ़ नहीं सकता, जिस पर डोर बाँधकर कोई सहारे के लिए पैर तक नहीं रख सकता। मुझे लगा कि मैंने अपनी गुड़िया का, अपनी जीवनी शक्ति का, अपनी नाव का अपमान किया है (मूल्यवान तो यह है कि कोई किसी के लिए जीवित रह सके सदियों तक) तब मेरे सुख के स्रोत, मेरी जिजीविषा की बहती हुई धाराएँ, तब वह बारिश के अँधेरे आलोक में माँ का निदासा मुखड़ा—सब मुझसे अपमानित हुए हैं। और बदले में मैं स्वयं तिरस्कृत हुआ हूँ। क्या उस सूर्य गोलक को, क्या एक-दूसरे को धकेलते हुए बादलों को, क्या मां के उदास मुखड़े और अंधेरी नदी में तैरती नाव को मैंने जितना प्यार किया, उसका यही मूल्य है···यही अन्तिम नीरसता, यही सदाबहार एकरसता...यही सब, यही सब जो आज तक मुझे मिला है?

जाड़े की जिस बारिश में उस दिन भीगते समय मैंने यह निश्चय किया था कि मैं यह बात डाक्टर को बतलाऊँगा कि डाक्टर मुझे मालूम हो गया है कि मेरा जीवनस्रोत कहाँ है, कि मैं क्यों जिन्दा हूँ, जब मैंने अपने जूते, ओवरकोट,

कमीज़-पैण्ट सब उतार कर अपनी पीठ पर बाँध लिए और पुल से न जाकर, जमुना
घाट के समीप अँधेरी जमुना को पार किया। मुझे लगता था कि मैं गुरु वह नाव
हूँ, जिस पर स्वयं मैं पार करता आ रहा हूँ। अँधेरी नदियाँ, फेन उगलती हुई
लहरों का आक्रोश और चाँद-सितारे डुबोती मेघाछन्न जलराशि की उपेक्षा।
मुझे हँसी आ रही थी कि यदि डाक्टर यह जान ले तो जरूर यही सोचेगा कि
मैंने आत्मघात करने की कोशिश की थी। लेकिन यह बात भी, यह अर्थ भी, मैं उस
दिन तक आते-आते भूल गया। मुझे यह भी निरर्थक जान पड़ा बताना। कि अब
अब मेरी जिजीविषा का स्रोत यह भी नहीं है। उस दिन, जब मैंने वसन्त की
बारिश में डूबते हुए सूर्य को फिर पाकर टीले के पीछे खो दिया।

सूनी सड़क पार कर डाक्टर के बँगले पर पहुँचा। डाक्टर ने उस दिन कहा
था, "तब आकर जहर ले जाना, बस।" उस वसन्त-सन्ध्या में शहर पार कर मैं
इसीलिए जा रहा था कि ठीक उसी समय वह डूबता हुआ सूर्य साँवला दीखा
जिसने फिर मुझे ठग लेना चाहा था लेकिन तभी फिर मैंने उसे खो दिया था और
बिल्कुल दृढ़ मन से बँगले पर पहुँचता था। दरवाजा बन्द था। सोचा डाक्टर डिस्पे-
न्सरी में न हो। लेकिन डिस्पेन्सरी भी बन्द। अब क्या करूँ? नदी मुझे डुबा
नहीं सकती और मृत्यु को मैं पीड़ा के रूप में ले नहीं सकता...अब क्या करूँ...?
लौट पड़ा। अशोक-रोड के दोनों ओर अशोक के पेड़ सन्ध्या में गहरे हो रहे थे।
इन्स्टीट्यूट सूना था लाउन में लड़कियाँ इधर-उधर फुदक रही थीं। कैफेटेरिया
में चम्मच काँटों की खनक गूँज रही थी।

जैसे कहीं न देखता हुआ मैं लौट चला। अब क्या होगा? नहीं अब यह
सब हल हो जाना ही चाहिए। मैं जानता हूँ कि अनुभव की पूर्णता के बाद जीवन
उसकी आवृत्ति हो नहीं सकती। तो? विवशता, बेहयापन, दूसरों का दुःखदर्द...?
मुझे अन्तिम और पहली बार अन्तरंग पीड़ा महसूस हुई कि जो मृत्यु से दुखी नहीं
होता, उल्टे सुखी होता है, कठोर होता है—वह दुख देखकर क्या करेगा? स्पर्श
और मधुर वचन और सान्त्वना? वह दे तो सकता है, लेकिन तब वह स्वयं अन-
नदी की तरह इतना भर जायेगा कि रो भी नहीं सकता।...तब...?

एकाएक मैंने महसूस किया कि कोई मुझसे बात करे। कुछ भी...बिना मतलब के। अपना दुख-दर्द ही सुनाये, गप हाँके, हँसे और कुछ बीती बातें सुनाये... कुछ सुने, भले ही हँसकर टाल जाय या झूठी सहानुभूति से दुखी हो जाय। यह कि मुझे नींद ही आ जाय और शायद सुबह तक कुछ हो जाय। लेकिन नींद तो आने से रही। और फिर नींद आने के पहले तक यह असह्यपन। मैंने जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाया। पुल...फिर शहर। इधर-उधर देखता हुआ सामने लगा कि कोई परिचित मिल ही जाय। मैं एक पान की दूकान पर खड़ा हो गया। पान वाला मुझसे परिचित था। मैंने मुस्करा कर पान माँगा। बोला, "मौसम बड़ा ही खूबसूरत है।"

उसने मुझे घूर कर यों देखा, जैसे मैं कोई पागल हूँ और पान की पत्तियाँ कतरने में लग गया। मैं आगे बढ़ा। सोचा, किसी से टकरा जाऊँ और इसी बात को लेकर झगड़ा कर लूं। कुछ लोग इकट्ठे हों। शायद कोई मिल जाय गप्पाक। फिर किसी होटल में बैठकर चाय पीयें और ढेर सी बातें करें। फिर मैंने सोचा कोई औरत मिले। मैंने अपनी परिचित नामावली पर नज़र दौड़ाई। लेकिन मैंने सोचा—इस शाम में फ़ुर्सत किसे होगी? किसी के यहाँ जाने पर वही चाय और वैसे ही शिष्टाचार-भरी बातें कि यह एकरसता और बढ़ जायेगी। और कोई भी औरत एकदम खुलकर बात करेगी? क्यों करेगी? पत्नी, बहन, प्रेमिका क्या सभी पीठ पीछे शंका समाधान नहीं करतीं कि वह ऐसा क्यों बैठा था, इस बात का क्या अर्थ था? यह शब्द उसने क्यों कहा? इस तरह क्यों हँसा? फिर चुप क्यों हो गया? उसने टाफ़ी क्यों दी? चाकलेट क्यों नहीं दिया? और इस शंका का अन्त कहाँ होता है? फिर ढेर-सारी बातें उठतीं हैं। वह एकान्त सहानुभूति कि कोई मात्र मेरे लिए ही हो, कहाँ है? औरतों की अपनी समस्याएँ होती हैं, चुप-चुप। चाहे वे पूजा की हों या वासना की, जिन्हें वे व्यक्त नही करतीं।...खासकर सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित औरतें लेकिन अपनी इच्छा-पूर्ति करने में वे चूकतीं कभी नहीं। यही कि ऊपर से सब ठीक-ठाक रहे। तो फिर इससे तो अच्छी है एक वेश्या जो बिना कहे बता देती है कि मैं किसी की नहीं, अतः मुझसे कुछ नहीं मिलने का। कम-से-कम वह 'सच' से शुरू तो करती है। वह छिपाती तो नहीं और कहीं उसके मन में यह अंतरंग तरस कि काश! मुझसे तुम्हें कुछ मिल सकता। यह तरस उसकी पावनता का क्या सबसे बड़ा प्रमाण

नही है ?

फिर बाँसमण्डी, टक्कर साहब का पुल, बहादुरगंज, जी०टी० रोड और फिर एक सड़क के कोलाहल से मेरे कदम अनायास और दृढ एक गली में मुड गये। गली और सड़क के शोर मे फर्क था। सड़क पर फलो और मिठाइयो की दूकानें थी। सड़क का शोर चिन्तित था, जल्दी में था, थका हुग्रा था। घर जाने की बाट जोह रहा था। घण्टाघर की ग्रावाज़ की ओर कान लगाये था। गली का शोर फुर्सत मे था, हस रहा था। एक बारगी अजीब प्रकार की गन्ध महसूस हुई, तीखी और गीली, घुटती हुई-सी। लोग जगह-जगह दरवाजों पर भुण्डो में खड़े होकर नाक-नक्शा, रूप-रग पसन्द कर रहे थे और भद्दे-भद्दे मजाक करके ज़ोर-ज़ोर से हँस रहे थे। एकाएक उनमे से कोई अन्दर हो लेता और बाकी लोग आगे बढ़ जाते। मैंने सोचा कि इतनी भीड-भाड में मैं अपनी बात किससे कह सकूँगा? गली मे पान की एक खूबसूरत दूकान थी। उसका शीशा बड़ा साफ और चमकदार था। मैं लोगों से बचकर शीशे के सामने खड़ा हो गया। मेरे चेहरे से यह व्याकुलता बिल्कुल मेल नहीं खाती थी कि मैं किसी से बात तक करना चाहता हूँ। वह उतना ही शान्त, खुश और चुप था।

परे हटकर, मैं एक तग और अँधेरी गली में हो लिया। गली का रास्ता कच्चा और गीला था। मकान टूटे, नोना लगे हुए थे। छोटे-छोटे दरवाजों पर धुँधली लालटेन हाथ मे थामे, चेहरे पर सुर्ख रग पोते, सस्ते पाउडर की महक मे भीगी औरतें खडी थी। उसकी आँखें आने जाने वालो को उल्लू की तरह घूरती। लोग इधर कम आ-जा रहे थे। कुछ ठेले वाले, या देहाती मजदूर, तेल चिपटाये पसीने में चकचक, तहमत बाँधे अँधेरे मे मुस्कराते हुए मोल भाव कर रहे थे "बाई जी! कितना लोगी?"

पसोपेश और लाज मे गडा मैं सोच रहा था कि किससे बोलूं। फिर गली पार कर मैं दूसरी सड़क पर आ गया, लेकिन तुरन्त फिर दुबारा गली मे मुड गया। कोने पर ही एक औरत ने पुकारा, "आइये बाबू जी।"

वह मुझे गुजरते हुए देख चुकी थी। मैंने मुड़कर देखा। हाथों मे वैसे ही लालटेन पकड़े वह गली में आ गई और बोली, "चार आने, बस।" फिर मेरा हाथ पकडे, खटखट सीढ़ियाँ चढ़कर कमरे में घुस गई और लालटेन नीचे रखकर दरवाजा बन्द कर लिया। सामने एक चौकी पर चीकट दरी के किनारे एक गदियों

पुराना काला तकिया दुर्गन्ध दे रहा था। एक ओर गन्दी और पुरानी सुराही एक अलमुनियम के गिलास से ढकी थी। वह झट से चौकी पर बैठ गई और बोली, "बैठो।"

घर के भीतर आकर मैं आदरणीय न रहकर एक पशु हो गया था—रोज आने वालों की तरह। इसीलिए गली की वह समादर-भरी वाणी तुरन्त घृणा से भरपूर 'बैठो' में बदल गई। मैंने देखा कि उसके पैर बहुत कुरूप और खुरदरे थे। बांहों की चमड़ी सिकुड़ी हुई थी। मुंह की झुर्रियों में उसने बेतरह पाउडर भर रखा था। उसकी आंखें गढ़े में थीं और उनमें कुछ भी नहीं था, सिवाय पुतलियों के। वह बिल्कुल बँदरिया जैसी लगती थी।

"निकालो पैसे।" उसने हाथ बढ़ाते हुए घूर कर देखा। "घड़ी है?" उसने मेरी कलाई पकड़ कर घड़ी देखी। "दस बजने में दस मिनिट कम? ओह"... उसने मेरी कलाई पटक दी, "जल्दी करो, निकालो..."

मैंने मुस्कराने की कोशिश की कि शायद वह मुस्कराये। लेकिन उसका चेहरा और रुखा, बीभत्स हो आया। कड़क कर बोली, "निकालो।"

मेरी पैण्ट की जेब में इन्स्टीट्यूट का एक लाल गुलाब था। मुस्कुराते हुए मैंने उसकी ओर बढ़ाया।

उसने किटकिटा कर एक बार मेरी ओर देखा। बोली, "यह क्या है? गुलाब का फूल। फूल क्या होगा?" उसने झटक कर छीन लिया और जोर से घुमाकर चीकट कपड़े की दीवार के उस ओर फेंक दिया। बोली, "पैसे निकालते हो कि नहीं? अच्छा तीन ही आने दो। या फोकट में घूमने आये हो?"

"मैं रुपये दूंगा, लेकिन एक शर्त पर।" मैंने अपने कोट की जेब से पर्स निकाला, "तुम्हें मुझसे बातें करनी होंगी।"

उसकी आँखें फैल गई। वह पर्स की ओर ताक रही थी। मैंने पर्स से एक पाँच रुपये का नोट निकाला। उसने झपट लिया नोट, और अपनी चोली में खोंस लिया। लालटेन धीमी की और बोली,—"चलो, जल्दी करो।"

मैं चुप.. फिर बोला "मैं तुमसे बातें करना चाहता हूँ।"

वह एकदम खिझला-सी गयी। "बातें? कैसी बातें? मुझे बातें करने की फ़ुर्सत नहीं है। चलते हो कि नहीं..." उसने दाँत किटकिटाये। दरवाज़े की सनद से से झाँककर देखा। शायद बाहर कुछ लोग खड़े थे। उसने मेरी बाँह पकड़ी और

चीकट कपड़े की दीवार के उस ओर धकेल दिया। बोली, "उधर ही रहना..." और झट से दरवाज़ा खोल दिया।

चीकट कपड़े की दीवार के इस ओर आने पर जो कुछ देखा तो सन्न। एक अजीब-सी दहशत मन में समाने लगी। सीली जमीन पर एक आदमी बैठा हुआ रोटियां निगल रहा था। उसका चेहरा एकदम सपाट था। आँख-नाक सब जगह सपाट। नीचे नथुनों से लगता था, नाक है। आँखें कहीं नहीं थीं। वह अन्धा भी नहीं था। लेकिन आँखों के गढ़े कहीं नहीं थे। ऐसा लगता था भीतर आँखें, भौंहें, बरौनियां सब हैं और हिल रही हैं। लेकिन ऊपर से एकदम बराबर था। सारा चेहरा सपाट।

उस ओर एक देहाती मोल-भाव करने के बाद दुअन्नी तय करके आ गया था। वह एकदम गन्दी बातें कर रहा था। तभी उस सपाट चेहरे वाले आदमी ने कहा, "अम्मीजान! पानी। रोटी अटक गई है गले में।"

उसकी आवाज़ एकदम सूखी, निष्कपट और साधारण थी। मुझे याद आया कि सुराही और अलमुनियम का गिलास तो उस ओर रखे हैं। फिर मुझे याद आया कि शायद इसे मैंने कहीं देखा है। कोई रास्ता है, जहाँ से गुज़रते हुए लगातार पिछले वर्षों में उसे देखता रहा हूँ। मेरे मन में एक अजीब-सी दहशत पैठने लगी। फिर सब गड़मड हो गया।

तभी उधर से आवाज़ आयी, "जल्दी करो। उसे प्यास लगी है।"

उस देहाती ने कोई भद्दी-सी गाली दी। बोला, "कह दे, ले ले पानी। कोई अन्धा है तेरा छोड़ा?"

लगा, उसने ज़ोर से उस आदमी को लात मारी। लेकिन उसने फिर गाली दी और दबोच लिया। वह रोने लगी। तभी इधर से फिर आवाज़ लगाई, "पानी अम्मीजान। .." वह छटपटाने लगी। "छोड़ो मुझे। मेरा लड़का अन्धा नहीं है। लेकिन वह देख नहीं सकता। उसका चेहरा एकदम सपाट है। वह महसूस कर सकता है, रो बिलकुल नहीं सकता। . छोड़ो मुझे छोड़ो .।"

मैं उठा और कपड़े की दीवार पार करके उस आदमी को मैंने एक लात लगाई। उसका चेहरा पसीने से चुह-चुह था। आँखें लाल थीं और वह हाँप रहा था जैसे दौड़कर आया हो कहीं से। एक क्षण तक मुझे घूरने के बाद वह सहसा खट-से बाहर हो गया। मैंने दरवाज़ा बन्द कर दिया। वह आँखों पर हथेली रखे

वैसे ही पड़ी-पड़ी रो रही थी। उसका चेहरा उस आदमी के पसीने की बूंदों से और उसके आंसुओं से भीग कर चितकबरा और बदरंग हो रहा गया था।

उधर से वह सपाट चेहरे वाला आदमी टटोलता हुआ आया। सर्वप्रथम उसके हाथों में माँ की पिंडलियाँ आयीं। फिर उसने अन्दाज़ से उसकी साड़ी खोज ली और उसे ढांपने लगा। लग रहा था जैसे उसके सपाट चेहरे के भीतर ढेर सारे आँसू इकट्ठे हैं और चमड़े की मोटी झिल्ली फाड़कर अभी-अभी निकल पड़ेंगे। लेकिन उसके होंठ एकदम शान्त थे और वह माँ का माथा टटोल कर चुपचाप थपथपाये जा रहा था।

दूधनाथ सिंह

जन्म : १७, अक्तूबर, १९३६
शिक्षा : एम० ए० (हिंदी)
प्रयाग विश्वविद्यालय
कार्यक्षेत्र : स्वतन्त्र लेखन

रचनाएँ

कहानी संग्रह

- सपाट चेहरे वाला आदमी
- ममी, तुम उदास क्यों हो ! (शीघ्र-प्रकाश्य)

उपन्यास

- चौतीसवाँ नरक (शीघ्र-प्रकाश्य)

कविता-संग्रह

- अपनी शताब्दी के नाम
- सुरंग से लौटते हुए (शीघ्र-प्रकाश्य)